

# नारिस्तकों के देश में नादगल्ल

प्रवीण झा



# CONTENTS

[Title Page](#)

[Copyright](#)

[पता-पता बूटा-बूटा](#)

[एक शहर बदनाम](#)

[नास्तिकों के देश में](#)

[नास्तिकों की मीनार और डच करेज](#)

[‘डच वाइफ’ की तलाश](#)

[जो लौट के घर न आए](#)

[वेश्याओं के देश में](#)

[वान गॉग की मक्खियाँ](#)

[हरामजादे 2.0](#)

[गांजा के देश में गांधी](#)

[उपसंहार](#)

# नरुतलकूँ के देश में

नीदरलैंड

प्रवीण कुडरर आ

नारितकों के देश में - नीदरलैंड  
लेखक: प्रवीण कुमार झा  
ASIN: B07KBJDF34

© प्रवीण कुमार झा

प्रथम संस्करण : नवंबर 2018

आवरण: विशाल

इस पुस्तक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। लेखक के लिखित अनुमति के बिना इसके किसी भी अंश की फोटोकॉपी एवं रिकॉर्डिंग सहित इलेक्ट्रॉनिक अथवा मशीनी, किसी भी माध्यम से अथवा ज्ञान के संग्रहण एवं पुनः प्रयोग की प्रणाली द्वारा, किसी भी रूप में पुनरुत्पादित अथवा संचारित-प्रसारित नहीं किया जा सकता।

## पत्ता-पत्ता बूटा-बूटा

गंजेड़ियों से मेरी मुलाकात भूतों की अपेक्षा अधिक होती है। गंजेड़ियों और नास्तिकों का संबंध है भी और नहीं भी। अगर गंजेड़ी नास्तिक होते तो प्रयाग के कुंभ में धूनी न रमाते; या भीमाशंकर के जंगलों में न भटकते। और गंजेड़ी अगर आस्तिक होते तो यूँ हिप्पी बन कर अपनी तलाश में न भटकते। गंजेड़ी नकुल हैं, निर्मोही हैं। गंजेड़ी औघड़ हैं, अबंड हैं। गंजेड़ी के पैर आसमान में हैं, चेहरे पर लालिमा है, होठों में धुआँ है, उंगलियों में सोंट है, शीश पर जटाएँ हैं और आँखों में अपूर्ण निद्रा है।

गंजेड़ी मानव-योनि में जन्मे पशु हैं; सजीव संरचना में निर्जीव हैं; भावरंजित हृदयों वाले भावहीन हैं; बुद्धि से लबालब अज्ञानी हैं; सौंदर्य की कुरूप प्रतिमा हैं; विजयघोष करते पराजित हैं। उनकी मुस्कुराहटों में मर्म है और उनके अश्रुपूरित नयनों में हास है। गंजेड़ी एक चलते-फिरते विरोधाभास हैं।

अब तो कुछ मर-खप गए, या कहीं पीछे छूट गए, लेकिन सोचा कि कुछ याद उन गंजेड़ियों को भी कर लूँ। पहले गंजेड़ी मित्र पारसी मूल के अंग्रेज़ी नाम वाले व्यक्ति थे। दायें से एक बॉलीवुड अभिनेता, बायें से दो दशक पुराने मॉडल और सामने से मेरे मित्र। उनकी आदत थी कि वह कॉरेक्स सिरप के साथ गांजा मारते। उनका मानना था कि कॉरेक्स सिरप विदेशी शराब से सस्ती और कारगर है। कॉरेक्स न मिलता तो कभी-कभार आयुर्वेदिक द्राक्षासव भी पी लेते। अंतर यह था कि ये बोतल वह चम्मच में नहीं, गिलास में उड़ेल कर शराब की तरह ही पीते। यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण था कि औषधि एक स्वास खुराक के बाद ज़हर बनने लगती है। ऐसे विरले ही होते हैं, जो शराब पीकर नहीं दवा खाकर मरते हैं। लेकिन इतिहास गवाह है कि जिमी हेन्ड्रिक्स और मर्लिन मुनरो से गुरुदत्त तक दवाएँ खाकर ही मरे। शराब भी पी होगी, लेकिन दवा खूब खाई और चल बसे। वह गंजेड़ी मित्र भी बस काल के गाल में गुम ही हो गए। यह ठीक से याद नहीं कि वह धर्मनिष्ठ थे या नहीं, किंतु खिलंदड़ स्वभाव के मस्तमौला व्यक्ति।

उस वक्त मैंने भी बाल बढ़ा कर बॉब मार्ले की तरह जटाएँ रख ली थीं। हालांकि मुझे मेरे मित्र जिम मॉरीसन बुलाते। बॉब मार्ले असाधारण गंजेड़ी थे, जो अल्पायु रहे लेकिन गांजा पीकर नहीं मरे। वह कहते थे कि गांजा से राष्ट्र-निर्माण होता है और शराब से राष्ट्र की क्षति। आज जब नीदरलैंड पर यह किताब लिखने बैठा तो उनकी यह उक्ति चरितार्थ होती नजर आ रही है।

कहते हैं कि बॉब मार्ले को गांजा मारना घुमा-फिरा कर प्रयाग के साधुओं ने ही सिखाया। हुआ यूँ

कि रास्ताफेरियन समुदाय के प्रवर्तक की मुलाकात जमैका में आए भारतीय गिरमिटियों से हुई। वह हिंदुस्तान से गांजा लाए थे और वहीं खेत में उगाने भी लगे। शाम को ढोल-मंजीरा बजाते गांजा फूँकते। उनसे गांजा मारना तो सीखा ही, माँ काली के भक्त भी बने और उनसे ही यह जटाएँ बनानी भी सीखी। तो बॉब मार्ले की जटाएँ अब भले तमाम रेग्गे और हिप-हॉप गायकों में नजर आए, उसका मूल स्रोत प्रयाग का संगम है।

हमारे बॉब मार्ले क्लब में एक ओशो रजनीश के भक्त नव-अभियंता जुड़े। उनकी आदत कोरेक्स सिरप की नहीं, देशी ठर्रे की थी। उनके कमरे में घुसते ही लगता गाँव का ताड़ीखाना आ गया। बोतलें भी कोंकणी शराबखानों की तरह हरे रंग की बिना मार्के की सुराहीनुमा। जैसे अभी कोई कोली स्त्री 'मुंगड़ा-मुंगड़ा' गाती पीछे से आ पड़ेगी। उन मित्र का स्वभाव दार्शनिक था और सदैव चिंतन-मुद्रा में रहते। उनके बारे में मैं स्पष्ट हूँ कि वह अनीश्वरवादी थे। रजनीश आश्रम में भी अधिक दिन न टिक पाए। एक दिन बाथरूम में लटके मिले। उनकी कथा मैंने शायद अपनी पहली किताब में लिखी हो। जब उनकी मृत्यु हुई और लोगों ने बाथरूम धक्का देकर खोला, तो उनकी लाश के आस-पास चींटियों का ज़खीरा था। चींटियों को देशी ठर्रे और गांजे का स्वाद संभवतः पसंद हो। मुझे कई वर्षों बाद इल्म हुआ कि 'मुंगड़ा' का अर्थ भी चींटी ही है।

एक रात यँ ही दिल्ली के इरविन अस्पताल में डाक्टरी ड्यूटी बजा रहा था कि दो उत्तर-पूर्व मूल के प्रशिक्षु चिकित्सक आए और खींच कर साथ के आराम-कक्ष में ले गए। मुझे तलब किया कि मेरी इच्छा 'जॉन्ग' पीने की है? मैंने अब तक जॉन्ग के नाम पर अपने एक प्रिय कोरियाई तानाशाह का नाम सुना था। यह जॉन्ग न जाने क्या था? उन्होंने कहा कि यह हिमालय की जड़ी-बूटी है जो लेह-लद्दाख में कहीं मिलती है। यह दुनिया के सबसे ताकतवर नशों में एक है, लेकिन इसे पहचानना और ढूँढ़ना कठिन है। मुझे उन्होंने एक छोटी पुड़िया में कुछ पत्तों के चूर्ण सा दिखाया और कहा, "यही है जॉन्ग!" मैंने उस वक्त मना कर दिया कि नशे में मुझसे डाक्टरी तो न होगी। फर्ज़ करो कोई दुर्घटनाग्रस्त मरीज आया और मैं जॉन्ग के नशे में हूँ तो उसका क्या होगा? जब तक मैं फर्ज़ करता, वाकई स्ट्रेचर पर लेटे दो स्तरंजित मरीज आ गए। मैं उनमें व्यस्त हो गया और जॉन्ग-वितरक भी लुप्त हो गए। उस दिन से आज तक मैं तमाम किताबी-गूगली स्रोतों से जॉन्ग तलाश रहा हूँ, लेकिन इस नाम का कोई नशा मुझे न मिला। मुझे शब्द और वे पते भी याद हैं, लेकिन वे वापस न मिले। न वे प्रशिक्षु फिर कभी दिखे। शायद इस किताब के पाठकों में कोई जॉन्ग पीते हों और अब तक ज्ञानेंद्रियाँ जीवित हों तो मुझसे संपर्क कर लें।

न जाने मेरी यह नास्तिकों, भूतों, नशेड़ियों, गंजेड़ियों की जिज्ञासा कब खत्म होगी? मुझे कभी-कभी लगता है कि मैं किसी जिप्सी समुदाय से हूँ, मेरे हाथों में वायलिन है और मैं रेगिस्तान में भटक रहा हूँ। लेकिन मेरे चेहरे पर वह मुस्कान है जो दुनिया के सबसे प्रसन्न व्यक्ति में भी न होगी। इन प्रजातियों को न बुझा है, न पिपासा। यह बस कुछ पत्तों को फूँकते जीवन बिता रहे हैं। इन पत्तों को फूँकते ही इनके इर्द-गिर्द वे लोग चलने लगते हैं, जो हैं ही नहीं। या हैं, लेकिन उन्हें देखने की क्षमता आम मनुष्य में नहीं। क्या पता हम जिसे भ्रम कह रहे हों, वही सत्य हो। वह जिस आकाश में देख कर ठहाका मार रहा है, उस आकाश में वाकई उसका मित्र बैठा हाथ हिला

रहा हो। हमें दिखता तो हम भी ठहाके मार कर उसे हाथ दिखाते। हमारे पैर भी आसमान में होते, और उंगलियों में सोंट होती।

पिछले वर्ष पश्चिमी नॉर्वे के एक विश्वविद्यालय में कुछ पंजाबी लड़के मिले। उनकी जीवन-शैली का महत्वपूर्ण हिस्सा यह मिट्टी की बनी सोंट थी। इसमें चिलम की तरह गांजा भरते और मार कर पड़े रहते। उनके साथ कुछ यूरोपीय युवतियाँ भी रहतीं। वे भी सोंट का दम मार कर वहीं पड़ी रहतीं। मुझे लगा जैसे समय-चक्र घूम कर सत्तर के दशक के हिप्पियों के काल में पहुँच गया है। सोचा कि इनको मुक्ति का ज्ञान दूँ लेकिन यह तो पहले से मुक्त हैं। बंधा तो मैं हूँ। समाज से, परिवार से, ज़िम्मेदारियों से, प्रसिद्धि की लालसा से, धन के मोह से और ईश्वर की भक्ति से। मैं इन्हें मुक्ति का मार्ग बताऊँ या इन रस्सियों से बाँध कर जड़ बना दूँ। उड़ो, खिलो, हँसो, डूबो, घुटो, मरो। इनकी आँखों में मेरा वह कौरवस-मित्र अब भी पुतलियों में बैठा मुस्कुरा रहा था।

इस मुस्कुराहट से पीछा कहाँ छूटता? जहाँ जाता हूँ, गंजेड़ी मिल जाते हैं। ट्यूनिशिया के गंजेड़ी, अफ़ग़ानी गंजेड़ी, मेक्सिको के गंजेड़ी, रोमानिया के गंजेड़ी, पश्चिम अमरीका के गंजेड़ी, उज़्बेकिस्तान के गंजेड़ी। भांति-भांति के गंजेड़ी रोज़ मिलते हैं। लेकिन इन गंजेड़ियों से जुदा थे कोसी के जलदस्यु गंजेड़ी। पाइरेट्स ऑफ़ कोसी। रूँ तो उन पर अलग से किताब लिखी जा सकती है, लेकिन बात निकली तो कहे देता हूँ। यह उत्तर बिहार की ऐसी नदी है जो हर वर्ष हज़ारों घर बहा ले जाती है। लोग कहते हैं कि नेपाल से पानी छूटता है, बिहार डूब जाता है। इसी प्रलय के मध्य कई जलदस्यु परिवार भी रहते हैं। उन्हीं में एक मित्र मेरा भी रहा होगा। अब शायद सरगना बन गया हो। नेपाल एक पुण्य यह करता है कि इस सैलाब के साथ गांजा भी भेज देता है। सरकार से राहत की टीम जब तक आए, तब तक सब के हाथ में चिलम आ जाती है। अब वह गांजा पीकर एक टीले पर बैठे हैं और उनका झोपड़ा जलमग्न हो चुका है। इस विनाश को देखने की शक्ति और डूबे झोपड़े को फिर से खड़े करने की शक्ति यह सोंट में भरा गांजा ही देता है। तभी बॉब मार्ले कह गए कि गांजा राष्ट्र का निर्माण करता है। अब इनकी भूख भी यही, प्यास भी यही। कारण भी यही, नियति भी यही।

आज जब हवाई जहाज से नीचे नीदरलैंड को देख रहा हूँ तो ऐसा ही जलमग्न देश नज़र आ रहा है, जहाँ गंजेड़ी सोंट खींच रहे होंगे। लेकिन फिर भी यहाँ कि फ़िजा अलग है। ज्यों-ज्यों जहाज नीचे उतर रहा है, जलमग्नता की परिभाषा बदल रही है। गांजे की खुशबू झीनी बयार बनी है। सब स्वस्थ-मस्त नज़र आ रहे हैं। आखिर मुझे वे आदर्श गंजेड़ी शायद मिल जाएँ, जो राष्ट्र-निर्माता हों। और कमाल की बात कि उनकी आँखों में न वह कौरवस-मित्र नज़र आता है, न वह मुंगड़ा-मित्र, न वह सोंट-मित्र और न वह जलदस्यु-मित्र। नज़र आता है तो किसी स्वप्न-सुंदरी की बालों में खोंसा हरा अष्टदल भांग का पत्ता। यह भौतिकवादियों का स्वर्ग है। तर्कवादियों का तिलिस्म है। नास्तिकों का देश है। नीदरलैंड।

## एक शहर बदनाम

शहर अय्याशी का है तो शहर बदनाम है, पर शहर ये कुछ खास है। गर किसी को अपने पूर्वाग्रह तोड़ने हों तो एम्सटर्डम आइए और गर किसी को उत्तराग्रह जोड़ने हों तो भी एम्सटर्डम आइए। वेश्यायों और गांजापंथियों का देश गांधी के देश से अलहदा तो है पर कमजोर न कहूँगा। यहाँ दुकानों में जितने 'सेक्स-टॉय' नजर आते हैं, उतनी ही बुद्ध की मूर्तियाँ भी। जितनी शराब की नदियाँ बहती हैं, उतनी ही अमृतधाराएँ भी। यहाँ की नास्तिकता में भी एक भिन्न आस्तिकता है। हवाओं में जितनी भीनी मादकता, उतनी ही झीनी सुगंध। गर स्वर्ग की परिभाषा में अप्सराएँ और सोमरस है तो यहाँ आइए और गर नरक की परिभाषा में ईश्वर से विरक्ति है तो भी यहाँ आइए। यह पृथ्वी का वो टुकड़ा है, जिसने बंद कमरों को खोल कर सामने रख दिया है। पाखंड का अंत शायद तभी होता है जब नग्न मानुष की चवन्निया मुस्की अठन्निया बन जाती है। खुशी इस बात की है कि चार दिन की चाँदनी के बाद पाँचवे दिन सूरज खिल कर उगता है। शायद यह भी एक शुद्धीकरण ही है। यह रास्ता किताबों में कम लिखा है।

एम्सटर्डम उतरने से पहले मैं कई बार एम्सटर्डम के ऊपर से गुजरा ज़रूर हूँ। कुछ जगहों पर उतरने के लिए माहौल बनाना होता है। आप गर यूँ ही एम्सटर्डम उतर गए तो क्या उतरे? पहली बात कि यहाँ अकेले उतरें। औरों के साथ भी उतरें तो लगे यूँ कि बस आप उतरे। अब स्वर्ग-नरक का मामला है तो कहाँ दोस्त-परिजन लिए पहुँच गए? वहाँ तो अकेले ही जाना होगा।

मेरे एक मराठी मित्र यह सुन कर बड़े नाराज़ हुए। वह कोल्हापुर अकेले न जाएँ, एम्सटर्डम का तो सवाल ही नहीं उठता। पर यह समझना भी ज़रूरी है कि कोल्हापुर में ऐसी प्रतिबद्धता नहीं है। हर शहर का एक कानून होता है। कोल्हापुर का अलग, एम्सटर्डम का अलग। और ऐसे कई स्थल हैं जहाँ आप मित्र-परिजन लेकर नहीं जाते। मसलन गुसलखाने भी तो आप सबको लेकर नहीं जाते। एम्सटर्डम को भी बस बड़ा गुसलखाना मान लें। यह तर्क उन्हें जम गया और कहा कि अगली फुरसत में एम्सटर्डम जरूर आएँगे। पर उनकी फ़िक्र वो करें, मैं फ़िलहाल एम्सटर्डम हवाईअड्डे पहुँच गया।

हवाई अड्डे तो दुनिया में अब एक से होते हैं। एक हवाई जहाज़ तक पहुँचने में चार मील और दस बाधाएँ। भूल-भुलैया शीशमहल। जो पहली बार आया, वो हकबकाया खड़ा है। जो दसवीं बार आया, वो दौड़ लगा रहा है। और कुछ यूँ निश्चिन्त चहलकदमी कर रहे हैं जैसे यहीं घर-बार बस गया हो। कुछ दुकानों में भीड़ है, पर खरीदार नहीं। कुछ में खरीदार हैं पर भीड़ नहीं। कोई यूँ अखबार लिए कॉफी की चुस्की ले रहा है जैसे कि वक़्त ही वक़्त हो। गर इतना ही वक़्त था तो हवाई जहाज ली



ही क्यों? बस-ट्रेन में क्या बुरा है? पर बात बस-ट्रेन से जुदा है। अब तो कई देशों में तेज गति बुलेट-ट्रेन आ गए, पर ये चमचमाते फर्श, ये लंबे गलियारे, ये सुंदर परिवारिकाएँ, ये खूबसूरत नलकों वाले शौचालय, ये 'इयूटी-फ्री' की नफीसी दुकानें, ये आरामकुर्शियाँ, ये लम्बो-लुआब वहाँ हो न हो। एम्सटर्डम के हवाई अड्डे में भी वही बातें थी, जो आम हैं पर खास हैं। एक मामूली सा फर्क यह नजर आया कि असबाब जिस 'लगेज़ बेल्ट' पर घूमता हुआ आया, उस पट्टी पर कई सतर के दशक के विज्ञापन वगैरह चिपके थे। किसी कलाकार को यह खयाल आया होगा कि खबर की इन बेरुखी पट्टियों पर कुछ चिपियाँ लगा दी जाएँ। 'कूल' लगेगा।

अक्सर ऐसे सफर पर मैं एक आर्कटिक पीठ-बस्ता लिए घूमता हूँ। साठ-सत्तर लीटर के इस बस्ते में पूरी धरती समा जाए। जितने मर्जी चड्डी-मोजे भर लो। खाने के सामान भर लो। किताबें भर लो। बोटलें भर लो। चप्पल-जूते भर लो। और फिर आर्कमिडीज़ की तरह उठा लो इस धरती को। इसमें कसा हुआ आदमी यूँ लगता है कि अभी-अभी चाँद पर उतरा हो। इसके साथ धूप-चश्मा भी आवश्यक है, अन्यथा बोझा लटकाए जनवादी कविताओं के दीन-हीन मज़दूर नज़र आएँगे। यह चश्मा गर देश के हर मज़दूर को दे दिया जाए तो उनकी हीनता समाप्त हो जाए। और यह कटाक्ष नहीं है। पच्छिम के मज़दूरों और पूरब के मज़दूरों में बस इस काले चश्मे और बत्तीस जेबों वाली खाकी पतलूनों का ही फर्क है। गर यह अकड़ बढ़ जाए तो दिहाड़ी बढ़ ही जाएगी। यह मार्क्सवाद का सार कम लोग समझते हैं कि अमीरी और गरीबी में मात्र चश्मे का फर्क है, देखने वाले के भी और पहनने वाले के भी।

तो काला चश्मा लगा कर पीठ-बस्ता टाँग निकल पड़ा। अब यहाँ एक और बात कह दूँ। यूरोप कहने को तो महादेश है, पर इसमें महादेश के गुण नहीं नज़र आते। महादेशों में कई देश हों, हर देश में टकराव हो, सीमाएँ पत्थर की लकीरें हों कि कोई माई का लाल न मेक्सिको फांद अमरीका आ सके, न म्यांमार फांद भारत। गर सीमाएँ यू.पी.-बिहार सी हों कि जब मर्जी छपरा से बनारस निकल लिए, तो फिर सीमा हो ही क्यों? मैं नॉर्वे से नीदरलैंड आ गया, पासपोर्ट बस्ते में ही पड़ा रह गया। किसी ने पूछा ही नहीं। विदेश जाने का अनुभव तब तक पूरा नहीं होता जब तक पासपोर्ट के पन्ने पलट कर कोई चेहरा न मिलाए, चार बार जाँच न करे। यहाँ तो बस यूँ ही निकल जाओ। अब ब्रिटेन वाले स्वाभिमानि सदा से रहे हैं। उन्हें सर्वहारा बन कर एक पांती में बैठ खाने का अभ्यास नहीं, तो छिटक लिए। अब यूरोप आते हैं तो मेहमान बन कर आते हैं, कि हम तुम यूनियन वालों जैसे ऐरू-गैरू नहीं। नॉर्वे भी यूनियन से बाहर है, पर दोस्ती बना रखी है कि कोई चेकिंग न करे। जो भी है, बढ़िया ही है। मेरे लिए तो दोनों विदेश ही हैं, और सदा से पढ़ते आए हैं कि ये दो अलग देश हैं। कभी बर्लिन की दीवार गिरा लो, कभी यूनियन बना लो, कभी युगोस्लाविया तोड़ लो, कभी ब्रेक्जिट कर लो, मुझे क्या?

नीदरलैंड में मुझे एम्सटर्डम-उत्रेख्त-हेग के त्रिकोणीय सफ़र पर जाना था। इस सफ़र की बुनियाद कुछ और थी, पर मैं नास्तिक देश के दायरे में ही फ़िलहाल रहता हूँ। मुझे नास्तिकों को भी देखना था कि आखिर कैसे रहते हैं? दिखते कैसे हैं? मैं शौकिया मार्क्सवाद का इंजेक्शन लिए नास्तिकों को नहीं, जन्मजात नास्तिकों से मिलने की तलाश में था। जो पैदा ही नास्तिक हुआ।

गोद में खेलता नास्तिक, तिपहिया साइकल चलाता नास्तिक, कॉलेज जाती नास्तिक लड़कियाँ,  
अधेड़ नास्तिक, वृद्ध नास्तिक। ग़रे नास्तिक, काले नास्तिक। पतले नास्तिक, मोटे नास्तिक।  
भाँति-भाँति के नास्तिक।

## नास्तिकों के देश में

तो मैंने उन्मुख की एक नास्तिक ट्रेन पकड़ ली। ट्रेनों का हिसाब-किताब यूरोप में एक सा ही है, या यूँ कहिए भारत जैसा ही है। एक चाहे झटके में दिल्ली से लखनऊ पहुँचा दे, दूसरी आराम से गाजियाबाद-गढ़मुक्तेश्वर-मुरादाबाद-बरेली-शाहजहाँपुर तमाम स्टेशनों से गुजरते हुए पहुँचे। मेरे हाथ गलती से तेज ट्रेन आ गयी कि जल्द ही उन्मुख आ गया। इस सफर में पता नहीं कितनी नहरें तेजी से निकल गईं। नीदरलैंड है तो नहरें हैं। आप कहीं ढेला फेंकिए, किसी न किसी नहर में जाकर गिरेगा। नहरों के बराबर कुछ हैं तो शायद गाय के बथान। इक्की-दुक्की गायें नहीं, गायों के झुंड। पूरे नीदरलैंड में घास के घने मैदान नजर आते हैं, एक हरी चादर की तरह। गर ट्रेन की गति और गायों के घनत्व से अंदाज़ा लगाऊँ तो इन दो शहरों के बीच दस हज़ार गाय तो मैंने देख लिए होंगे। यह देख डेनमार्क याद आता है।

डेनमार्क और नीदरलैंड गर साथ खड़े हों, तो जुड़वाँ भाई लगेंगे। दोनों उत्तरी यूरोप में एक साथ समुद्र में चौंच निकाले खड़े हैं। दोनों समुद्र से नीचे नजर आते हैं। दोनों कभी विश्व पर राज करने वाले देश रहे। दोनों खूब गाय पालते हैं। दोनों ऐसे सपाट हैं, जहाँ पहाड़ तो क्या सड़कों पर स्पीड-ब्रेकर भी दुर्लभ। बिल्कुल काग़ज की तरह सपाट। कुदरत ने इनमें फर्क न किया, तो नीदरलैंड ने शायद पहचान के लिए देश में नहरें बिछा ली। ये जुड़वाँ भाईयों या बहनों में करना पड़ता है कि एक की कमीज में निशान बना दिया कि अब ये है सोनू, और ये रहा मोनू। पर कुदरती समानता कहाँ बदलती है? दोनों देशों में गिनना मुश्किल है कि कहाँ के लोग साइकल अधिक चलाते हैं, और कहाँ पवनचक्कियाँ अधिक हैं। मुझे तो लड़कियाँ भी हू-ब-हू एक लगी पर गौर से देखा तो समझ गया कि जो डच हैं, वो डैनिश नहीं। नीदरलैंड में एक 'एक्स-फ़ैक्टर' है।

इस 'फ़ैक्टर' का अंदाज़ा तब हुआ जब ट्रेन-बसों में कई सफर किए। जब भी किसी कन्या को देख मुस्कुराता, वह साथ आकर बैठ जाती। यह कितनी साधारण सामाजिक सोच है, जो दुनिया के अन्य देशों में कम नजर आती है। कहीं और आप मुस्कुराइए, वह मुस्कुरा कर अगली सीट पर बैठ जाएगी। भारत में तो खैर मुस्कुराने के बाद अपनी सीट उन्हें देनी भी पड़ सकती है। नॉर्वे जैसे ठंडे देशों में मुस्कुराने का जवाब मिलना कठिन है। ठंड में मुस्कुराहट अकड़ जाती है। डच लड़कियों में यह तहज़ीब है कि वह साथ आकर ही बैठेगी। गर आप न मुस्कुराए तो और बात है। खैर, मैं मुस्कुराया था भी नहीं, वह तो मेरा चेहरा देख लोगों को शुबहा होता है कि मैं मुस्कुरा रहा हूँ। अब वह साथ बैठ ही गयीं, तो मैं भी नसीरुद्दीन शाह की तरह मुस्का लिया। यह फर्क है डैनिश और डच लड़कियों में। और भी अंतर हैं, बालों में, नाक में, और शारीरिक बनावट में। पर उसके लिए बारीक नजर चाहिए। ये मुस्कुराने वाला प्रयोग त्रुटिरहित और पक्का है। तो मुस्कुराइए जनाब कि आप नीदरलैंड में हैं।

मैं गाँव में पला-बढ़ा हूँ तो घूम-फिर कर नजर नीदरलैंड के गावों पर पड़ ही जाती है। ये चितकबरी तगड़ी गावें कितना दूध देती होंगी? एक-एक बथान में सैंकड़ों गावें नजर आती हैं। इनको भी डेनमार्क की तरह मशीनों से ही दुहा जाता होगा? इन गावों की शायद वो खातिर न होती हो, जो भारत में होती हो, या शायद होती भी हो। खाने-पीने रहने का तो इंतजाम अच्छा ही होगा। बस मशीन से दुहना कुछ वीभत्स लगता है। लेकिन जब मनुष्य तमाम मशीनों का गुलाम है तो गाय क्यों नहीं। और इन मशीनों में भी तो ऐसी तकनीक होगी ही कि गावों को कष्ट न पहुँचे। लेकिन गोबर? इतने गावों का गोबर आखिर कैसे संभालते होंगे? यहाँ गोबर के उपले तो बनते नहीं। पता लगा कि गोबर की समस्या यहाँ सत्यतः बड़ी समस्या है। पर्यावरण विभाग भी इस गोबर की दुर्गंध से परेशान है। इनके पास इतने लोग नहीं कि गोबर इकट्ठा करें। आखिर इस गोबर से बचने के लिए तिहाई गावों को घटाने का इरादा है। गोबर के कारण गावों का अंता नास्तिकों के देश का तर्क-ए-माहौलियत।

उत्प्रेक्षित शहर या नीदरलैंड का कोई भी शहर एकरूपता लिए हुए है। हर शहर को काटती सैंकड़ों नहरें, और नहरों में चप्पू चलाते लोग। बुद्ध भी और छोटी बत्तियाँ भी। गर आप चप्पू और साईकल नहीं चलाते, तो आप डच हो ही नहीं सकते। यह चप्पू चला कर जर्मनी निकल जाएँ। एक ने तो कहा कि इसी रस्ते सेंट पीटर्सबर्ग (रूस) जाकर फुटबॉल देख आएगा। यह डच जरूर पिछले जन्म में मछलियाँ रहे होंगे। इनके जीवन से जल निकाल दो, यह तड़प कर मर जाएंगे। इन्होंने जल को इतनी जगह और इज्जत दी कि दुनिया के सबसे अधिक बाढ़-संभावित क्षेत्र में कभी बाढ़ की विभीषिका आती ही नहीं। जिनका शहर ही जल में मग्न है, वे क्या जलमग्न होंगे।

अब नास्तिकता वाली बात पर लौटता हूँ। उत्प्रेक्षित स्टेशन और एम्सटरडम स्टेशन के बाहर मुझे अथेड़ महिलाएँ दिखी जो चिल्ला कर यीशु मसीह की बातें कर रही थी और कोई सुनने वाला नहीं था। मुफ्त के पर्चे बँट रहे थे, जिसे कोई लेने वाला नहीं था। मुझे ताज्जुब हुआ कि गोरों के देश में भला क्या ईसाई धर्म का प्रचार? और यह भी नहीं कि यह कोई ईसाई धर्म का नया पंथ हो। ये तो यीशु मसीह की मामूली बातें बता रही थीं, जो हमें भी पता है। जाहिर सी बात है कि कुछ दाल में काला है। नीदरलैंड की तो पूरी दाल ही काली है। मैं पैदल शहर में बस्ता लटकाए घूमता रहा और चर्च ही न नजर आए। इतनी देर में नॉर्वे में कम से कम पाँच-छह चर्च जरूर नजर आते। चर्च भले न हो, गुरुद्वारा हो, मस्जिद हो, मंदिर हो। न भगवान, न भगवान की छापा। काफी देर चलता रहा तो बुद्ध नजर आए। विशालकाय गौतम बुद्ध की स्वर्णवर्णी मूर्तियाँ। बुद्ध आस्तिक देशों में कम और नास्तिक देशों में अधिक मिल सकते हैं, यह बात एक श्रेष्ठजन ने कहा था। यह नीदरलैंड में सिद्ध हो गया। अब हर दुकान में गौर से देखा तो बुद्ध की एक मूर्ति जरूर नजर आती। दुकानें तो छोड़िए, वेश्यालयों में भी बुद्ध ही बुद्ध। वहाँ की बात बाद में करूँगा।

होटल कुछ सात कि.मी. की दूरी पर था, पर बस या टैक्सी से बेहतर था कि पैदल ही चल लूँ। बाकी कई यात्रियों ने साईकल उठा ली थी। बहुमंजिली साईकल पार्किंग नीदरलैंड के हर स्टेशन पर नजर आएगी। हवाई-अड्डे पर भी। बहुमंजिली भी, और बहुतलीय भी। यानी हर मंजिल पर साईकल के कई तल हैं। साईकल के ऊपर साईकल रखने के लिए एक विद्युत-संचालित तल है, जिसे ऊपर-नीचे किया जा सकता है। हज़ारों साईकलें लगी पड़ी हैं। जो गाड़ी चला रहा है, वह

जरूर अस्वस्थ या कुछ समस्याओं वाला होगा। जो भी समर्थ है, वह साइकल पर ही है। मैं भी साइकल भाड़े पर लेने की फ़िराक में था, पर सोचा कि कुछ कदम चल ही लूँ। हालाँकि साइकल का आस्था से संबंध नहीं, प्रकृति से है। पर नास्तिक देश का वाहन यह धड़धकेल द्विचक्रयान ही है।

हर सड़क के साथ चौड़ी साइकल की लेन। बल्कि गाड़ी के लेन के मुकाबले साइकल वालों की सड़क अधिक दमदार नजर आती। कई रास्ते तो ऐसे थे जिन पर गाड़ी चलेगी ही नहीं, साइकल ही चलेगी। अजीब-अजीब से साइकल यात्री नजर आ रहे हैं। एक युवक एक हाथ में फूलगोभी लिए ताबड़-तोड़ पेडल मार रहा है। एक महिला आगे एक टोकरी में बच्चा बाँधे साइकल चला रही है। वहीं एक दूसरी महिला ने साइकल के साथ छोटी गाड़ी बाँध रखी है, जिसमें दो बच्चियाँ किलकारियाँ मारती जा रही हैं। गियर से साइकल की गति तेज-धीमी हो रही है। साइकल की अपनी लाल-हरी बतियाँ भी हैं। साज-शृंगार साइकल के कम हैं, और यूँ लगता है कि किसी आदम जमाने की साइकल को लोग हाँके जा रहे हैं। कुछ दौड़ लगाने वाली आधुनिक साइकलें भी हैं, पर औसतन छब्बीस-अठाइस इंच वाले साधारण काले बदरंग से मॉडल हैं। नीचे नहरों में जो नाव चल रही है, उस पर भी साइकल लदे पड़े हैं। ऊपर के पुल पर भी। हर गली में। हर दुकान में। नीदरलैंड साइकल का साम्राज्य है। यहाँ चरपहिया धुआँ फेंकती गाड़ियाँ शहरों में गौण हैं। हाँ! गर दूर का सफ़र हो, तो गाड़ियाँ निकल भी जाती हैं। लेकिन शहर के अंदर पूरा परिवार साइकल पर ही निकलता है। इन्हीं साइकलों की लड़ियों के बीच गुजरते हुए मैं होटल पहुँच गया।

मेरे मन में यह जिज्ञासा हो रही थी कि आखिर चर्च कम क्यों हैं? वैसे नॉर्वे के चर्च भी खाली ही जा रहे हैं। खाली चर्चों से बेहतर है कि चर्च ही न हो। कुछ लोगों से बतियाने पर पता लगा कि चर्च बिक रहे हैं! यह बात तो और भी हजम नहीं हुई। सोचिए विश्वनाथ मंदिर बिक गया, तो क्या होगा? देवालय बिकने का अर्थ नहीं समझ आता। मैंने पूछा कि इस चर्च बिकने पर होता क्या है? और गर चर्च खाली जा रहे हैं, कोई आय नहीं, तो इसे खरीदेगा कौन? पता लगा कि कुछ में मॉल बन गए। कुछ में अपार्टमेंट। लोगों को चर्चनुमा इमारतों में रहने में आनंद आ रहा है। देवालयों में मॉल और अपार्टमेंट बन गए, स्कूल बन गए, और क्या पता साइकल-स्टैंड और शौचालय भी बन गए हों। इस बात ने मुझ नास्तिक को टीस तो दी, पर यह भी लगा कि खाली पड़े चर्च से बेहतर है कि अब इन इमारतों का भरपूर उपयोग तो हो रहा है। नॉर्वे में चर्चों में कोई जाता नहीं। कम-से-कम यहाँ अब स्कूल-दुकानें खुल गयीं तो भीड़ लगती है। यह भी पता लगा कि एक चर्च को मुस्लिमों ने खरीद कर मस्जिद बना दिया। यह बाबरी-औरंगजेबी मामला नहीं, पूरे दाम देकर मस्जिद बनाया गया।

वापस अब होटल की बात करता हूँ, जो होटल था ही नहीं। दरअसल होटल तो एम्स्टर्डम में आलीशान भी हैं, पर मैं कहाँ 'बैक-पैक' लिए जाता? आलीशान होटलों में पैदल नहीं जाता। गाड़ी भाड़ा कर ही उतरें। हालाँकि एक दफे मकबूल फ़िदा हुसैन को पुणे के एक पंच सितारा होटल के गलियारे में नंगे पैर भी देखा। बाद में पता लगा कि वो चप्पल-जूते पहनते ही नहीं। न मैं इतना महान् चित्रकार था, न पंच सितारा की तलब। एम्स्टर्डम का असल आनंद तो हॉस्टल में ही है। जहाँ लड़कपन की टोली जहाँ हर वक्त ही पार्टी का माहौल है। खास कर यूरोप में जब फुटबॉल का

वक्त हो। हॉस्टल के युवा-युवतियाँ शराब पीते फुटबॉल देख रहे हैं। हो-हल्ले के बीच गुट बने हुए हैं कि कौन किस टीम का साथ देगा? इनकी टीम तो हैं नहीं, लेकिन अब यूरोप से कोई खेले तो अपना ही है। बेल्जियम भी अपना, क्रोशिया भी अपना। इंग्लैंड अब कुछ पराया हो गया। पर रूस अब भी कुछ अपना है। वो नहीं भूले कि कैसे लाल सेना ने आकर हिटलर के चंगुल से मुक्ति दिलायी थी। यूरोप जिस गति से इतिहास भूलता है, उसी गति से इतिहास याद भी रखता है।

मैं भी कुछ मूंगफलियाँ लेकर ऊँची कुर्सी पर बैठ उनके उत्साह में शामिल हो गया। जब कुछ ठंडा पीने की तलाश हुई तो बार में बोतल-गिलास घुमाते व्यक्ति ने कहा कि यहाँ का पानी है हाइनेकैन बीयर। नीदरलैंड यही पीता है। इस लाल सितारे लगे हरी बोतल में नीदरलैंड का सार छुपा है। इसकी सड़ाँध बाकियों से कुछ बेहतर, और रंग बाकियों से कुछ गाढ़ा। जितना गुमान 'गिनेस' पीने वालों को है, उतना निर्मोह 'हाइनेकैन' पीने वालों को है। इसे पीते-पीते ही शायद व्यक्ति आस्तिक से नास्तिक भी बन जाता हो। किंतु नास्तिकों के महानिर्वाण के लिए पता नहीं कितनी बोतलें डकार लेनी होंगी।

उन्हीं ने बताया कि जब हाइनेकैन साहब (हाइनेकैन के मालिक) का अपहरण एमस्टरडम में किया गया तो यह दुनिया का सबसे बड़ा अपहरण था, जिसमें 17 मिलियन पाउंड की फिरोती रकम दी गयी। फिरोती के लिए इतनी रकम आज तक किसी को नहीं दी गयी थी। इस रकम से अपहरणकर्ता इतने बड़े माफिया बने कि उनकी मृत्यु पर गॉडफादर शैली में लिमाउज़ीन गाड़ियों का काफिला शहर से निकला था। यह तो उस बोतल को देख कर लग ही गया कि इस डच पेय में बहुत ताकत है।







## नास्तिकों की मीनार और डच करेज़

खेल में अभी कुछ वक्त था तो फिर से शहर घूमने का सोचा। इस बार अलग डगर पकड़ी, विदेशी ईंट बिछे सँकरे रास्तों से। अब घरों के बाहर लटके गुलदस्ते दिख रहे हैं। स्कूल के मैदान में खेलते बच्चे। कुछ संदिग्ध सी योजना बनाते उल्टी टोपी पहने किशोर-किशोरियाँ। कुछ साईकल पर आगे बास्केट लटकाए वृद्ध महिलाएँ और कुछ मेरी उमर की परिपक्व सुंदरियाँ, जिनके चेहरे पर सौंदर्य और विश्वास समानुपाती है। यूँ ही चलते चलते शहर के केंद्र में पहुँच गया।

यूरोप के हर शहर का एक केंद्र होता है। यूरोप ही क्या, भारत के हर शहर का भी केंद्र होता है। जैसे दिल्ली का कनॉट प्लेस, बेंगलुरु का एम.जी.रोड, गोरखपुर का रामगढ़ ताल या दरभंगा का टावर चौक। उन्हेल्लत का केंद्र भी एक टावर ही है। यह नीदरलैंड का सबसे ऊँचा चर्च टावर है, जहाँ चर्च कभी बन ही न पाया। चर्च अधूरा रह गया, टावर आज भी बुलंद खड़ा है। कई कोशिशें हुई कि यह गिरजाघर बने, लेकिन फिर कहा कि यह मीनार यूँ भी तो कितनी खूबसूरत है! मेरी नजर में यह नास्तिकता की सबसे ऊँची मीनार थी।

इस मीनार में कुछ माथा टेकने को तो था नहीं, पर इसके आस-पास की गलियों में तमाम भोजन-शराब की व्यवस्था थी। यूँ लगता है कि तिहाई नीदरलैंड साइकिल चला रहा है, तिहाई नहर में चप्पू चला रहा है, और तिहाई घंटे बैठ शराब की चुस्कियाँ ले रहा है। शुक्र है हर कोई कुछ न कुछ कर रहा है। देश धर्म-प्रधान न सही, कर्म-प्रधान तो है। अब ये न कहिए कि शराब का ग्लास हाथ में लिए सिगरेट पीना कर्म नहीं। दूर देश से लोग नीदरलैंड आते हैं कि रात भर शराब-गाँजा पी सकें। इसकी चर्चा मैं आगे भी करूँगा, लेकिन यह नीदरलैंड की अर्थव्यवस्था का एक मजबूत आधार है। शराब पीना-पिलाना भी यहाँ सुकर्म है।

मीनार के पास ही एक भारतीय मित्र की दुकान दिख गई। मित्र यूँ ही नहीं कह रहा कि वो भारतीय हैं। उस लहजे से तो हर व्यक्ति ही मित्र है। यह तो वाकई पुराने मित्र निकले। मेरे लेखों से उनका पुराना परिचय रहा है, और बातें भी होती रहीं हैं, पर यह खबर नहीं थी कि जनाब नीदरलैंड के इस अनसुने शहर में अचानक मिल जाएंगे। जब हिंदी के अनजाने से लेखक भी यूँ जाने जाएंगे तभी तो हिंदी का स्वर्ण-काल आएगा। सोचिए कि आपने कोई किताब लिखी, और किसी सुदूर द्वीप पर पहुँचे, और वहाँ भी एक व्यक्ति मिल जाए जो कहे कि क्या घटिया किताब लिखी तुमने यार? बात अच्छी और घटिया किताब की नहीं है, बात पहचान की है। अभी तो पुरस्कृत लेखक भी बगल से गुजर जाएँ, हवा न लगे। यह माहौल सोशल मीडिया के बाद बना है कि लेखक आड़े-तिरछे खड़े होकर मुस्कियाते तस्वीरें डालते हैं, हम झट से पहचान लेते हैं। लेखक अब सुंदर भी दिखने लगे हैं, पुरुष भी और महिलाएँ भी। उनके चश्मे उतर कर 'कॉन्टैक्ट

लेंस' बन गए, चेहरे पर दमक आ गई, कपड़ों से सिलवटें गायब हो गई, और कलम के सिपाहियों के हाथ लैपटॉप आ गया। इस क्रांति में मेरे जैसे लल्लू-पंजू भी आज पहचान लिए गए।

पंजाब से आकर मुझसे कम उम्र का व्यक्ति नीदरलैंड के इस शहर में दुकान जमा लेता है। तमाम गोरों की दुकानों के मध्या इसे क्या कहूँ? खुली अर्थव्यवस्था या समाजवाद? पलायन या अवसरवाद? मुझे कभी स्पेन के एक द्वीप पर एक उड़िया व्यक्ति मिल जाते हैं तो कभी नॉर्वे-स्वीडन के सीमा पर एक आंध्र के भले मानुष। पंजाबी तो खैर भीष्म साहनी से निर्मल वर्मा तक को मिलते रहे। हिंदी लेखकों से इनका स्नेह एक संयोग नहीं हो सकता। सत्य यह है कि ये दशकों से सर्वस्थान उपस्थित हैं। इनकी कोई सीमा नहीं। ये अपनी भारतीयता 'ट्रैवेल बैग' में लिए घूमते हैं। पंजाब में छोड़ कर नहीं आ जाते। ये पंजाबी और हिंदी पढ़ते, लिखते और बोलते हैं। इनमें कोई पूर्वाग्रह नहीं कि फलों काम नहीं करना। इनकी उद्यमशीलता प्रणम्य है। मैं ईश्वर से कभी-कभार प्रार्थना करता हूँ कि मुझे पंजाब की धरती पर जन्म देना। ईश्वर मुझसे स्वप्न में कहते हैं कि जन्म तो दे दूँगा, लेकिन तुम फिर घूम-फिर कर यहीं आओगे जहाँ तुम खड़े हो, और मैं संकोचवश प्रार्थना वापस ले लेता हूँ।

उनकी कथा सुन मालूम हुआ कि वे तीन महादेशों में रह चुके हैं, और यह उनका सबसे लंबा प्रवास है। उनके माता-पिता और भाई पंजाब में ही हैं। कई दशक पहले उनके ससुर रूस और जर्मनी के रास्ते नीदरलैंड आए, और उनकी सास सूरीनाम के रास्ते नीदरलैंड आई, जिनके पूर्वज लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले भारत से गिरमिटिया मजदूर बन कर सूरीनाम गए थे। जैसे भारतीय संस्कृति दिग्विजय कर नीदरलैंड में आकर मिल गयी हो, और मैं इस दिग्विजय का साक्षी बनने वहाँ पहुँच गया हूँ। हम बैठे बतियाने लगे, और इस मध्य कुछ ग्राहक आते-जाते रहे। अब वे मेरे भी ग्राहक थे, क्योंकि दुकान तो मैं भी संभाल रहा था।

वहीं दुकान में एक सिगरेट की मशीन लगी थी। पर उस मशीन से सिगरेट खरीदने के लिए अपना पासपोर्ट लगाना होता। बिना आपकी उम्र जाँचे मशीन एक सिगरेट न देगी। उन्होंने बताया कि जब यह मशीन न था, एक किशोरी सिगरेट खरीद ले गई और ठीक उसके पीछे पुलिस वाले आ गए और दुकान पर जुर्माना ठोक गए। कम उम्र के स्कूली बच्चे सिगरेट छू भी नहीं सकते। ऐसी मशीनें तो भारत में भी लग जाए कि उँगली लगाओ और आधार कार्ड जाँच कर सिगरेट निकले। अब यह तर्क न दें कि सिगरेट पीनी ही क्यों है? इसे ही क्यों न अवैध कर दें? यह सवाल पूछने के लिए नीदरलैंड सही जगह नहीं। यहाँ तो गाँजा भी उपलब्ध है, सिगरेट किस खेत की मूली है?

इन तमाम शराबियों-नॉजेड़ियों के मध्य भी एक शांत माहौल है। उनका कहना है कि कभी कोई अप्रिय घटना नहीं घटती। न कोई तोड़-फोड़, न कोई छेड़-छाड़। गर हज़ारों शराबी भारत के एक गली में जम जाएँ तो क्या हो? यहाँ हल्ला-हंगामा क्यों नहीं? जबकि 'डच करेज़' का अर्थ ही है शराब पीकर अपनी ताकत दिखाना। पुराने जमाने में डच जब युद्ध लड़ने जाते तो शराब पीकर जाते। इससे उनमें एक नकली शौर्य आ जाता। अब यही 'डच करेज़' भारत में दिखता है जब शराब पीकर आदमी किसी को भी देख लेने की कुव्वत रखता है।

डच सैनिक उस जमाने में 'ज़िन' पीते थे, पर अब इसका प्रचलन कम है। भारत में भी रम और विहस्की से ही यह ताकत आती है, जब लोग अंग्रेज़ी में गालियाँ देने लगते हैं। पर यह इल्म यहीं आकर हुआ कि यह फुसफुसिया आत्मविश्वास ही 'डच करेज़' कहलाता है।

## ‘डच वाइफ़’ की तलाश

मेरे मन में यह भी कौतूहल हुआ कि यहाँ की युवतियों में यौन-स्वतंत्रता कितनी है? क्या इस वेश्याओं के देश में यौन-संबंध यूँ भी आसान होगा? गाँजा-शराब पीकर निकले, रात किसी अजनबी के साथ बिता ली, और सुबह भूल गए। गर सीधी बात कहूँ तो ‘वन नाइट स्टैंड’ क्या यहाँ आम होगा?

अब इस बात की जाँच तो दो तरह से हो सकती थी। एक तो खुद किसी शराब में धुत युवती को पूछ कर देखूँ, या किसी स्थानीय व्यक्ति से बातों-बातों में निकलवा लूँ। इन्हीं बातों में कहानियाँ निकल आई कि अब नवयुवतियाँ तो दोस्तों के साथ संबंध बना ही लेती हैं। वे प्रयोगरत रहती हैं। लेकिन यूँ भी नहीं कि किसी अजनबी के साथ सो गयीं। कुछ मामूली जान-पहचान तो होती ही है, और जैसे-जैसे युवतियों की उम्र बढ़ती है, प्रयोग घटते हैं, और पक्के संबंध बढ़ते हैं। रही बात वेश्याओं की, तो उनसे भी संबंध विदेश से आए सैलानी अधिक बनाते हैं। नीदरलैंड के निवासी वेश्यालयों में आम तौर पर नहीं जाते।

यहीं उन्मुख शहर में कभी क्या खूब वेश्यावृत्ति होती। यहाँ के ज़ांदपाद इलाके के नहर में नाव पर वेश्यायें नग्न खड़ी होती, और लोग नहर किनारे बैठे निहारते, बतियाते और गर पसंद आयी तो उनके साथ नाव पर ही यौन-संबंध बनाते। यह नीदरलैंड के लिए भी अजूबी बात थी कि ‘फ्लोटिंग’ वेश्यालय होता। उस वक्त यहाँ की सैनिक देखने लायक थी। कई सैलानी एम्सटरडम की बजाय उन्मुख आते। लेकिन इस धंधे में कुछ अपराध और अवैध व्यापार होने लगे, तो यह तैरता वेश्यालय ही उठ गया।

अब उस इलाके में वेश्यालय तो नहीं, लेकिन मैं ‘डच वाइफ़’ से रू-ब-रू यहीं नहर किनारे हुआ। वह मुझे एकटक घूर रही थी, तो मैं भी घूरने लगा। कुछ वक्त बाद मुझे लगा कि इसकी पलक क्यों नहीं झपक रही? यह सुंदरी तो दरअसल सिलिकोन का पुतला निकली। डच वाइफ़ का अर्थ ‘सेक्स डॉल’ है, यानी एक खिलौना जिससे यौन-क्रिया की जा सके। लेकिन प्रश्न यह है कि भला इसका ‘डच वाइफ़’ से क्या संबंध?

किसी जमाने में कई डच अपने परिवार से मीलों दूर इंडोनेशिया उपनिवेश में रहते। ऐसे में वो अपनी यौन-कुंठा मिटाने के लिए कुछ रूई भरे गद्दे लेकर जाते जिसे टाँगों के बीच रख लेते। यह उस जमाने का ‘सेक्स-डॉल’ था, जो अब जापानियों और चीनियों द्वारा बेहतर बनने लगा है। लेकिन बेचा आज भी ‘डच वाइफ़’ संबोधन से जा रहा है। अब यह ‘डच वाइफ़’ सिलिकोन की बनने लगी। सिलिकोन स्त्री के शरीर की सघनता से मिलता-जुलता पदार्थ है, जिसे प्लास्टिक सर्जन स्तन-वृद्धि के लिए भी प्रयोग करते हैं।

मेरी भी इच्छा हुई कि ऐसी दुकान के चक्कर लगा लूँ और देखूँ इन अजूबे खिलौनों को। कभी नवयौवन में पालिका बाज़ार में भी चक्कर लगा आया था, तो कुछ खिलौने मिले थे। सुना है कानपुर के किसी मुहल्ले से बन कर आते थे। लेकिन कामसूत्र के देश में ये खिलौने अवैध हैं। बात भी ठीक है कि उनसे ख़्वाह-म-ख़्वाह समाज में कामोत्तेजन आएगा। अभी तो सब संत हैं। लेकिन हर उम्र के खिलौने आने से बचपन भी तो लौटेंगा। जो अस्तित्व बाल्य-काल में एक झुनझुने या लकड़ी की काठी का है, वही अस्तित्व आखिर गृहस्थ आश्रम के इन खिलौनों का भी तो संभव है। मैंने देखा कि हज़ार यूरो का एक संपूर्ण स्त्री काय खिलौना मिल रहा है, जिसमें स्त्री के सभी शारीरिक गुण हैं।

मैंने पूछा कि इस खिलौने से हमें मिलेगा क्या जिसमें कोई भावना नहीं? उस दुकानदार ने कहा कि वेश्याओं में भी प्रेम-भावना हर ग्राहक से नहीं होती, लेकिन लोग जाते हैं। कई लोग वेश्यालय नहीं जाना चाहते, वे इन खिलौनों को ले जाते हैं। और इस खिलौने को गौर से देखिए। इतनी सुंदर स्त्री कहाँ मिल पाती है? स्त्री का शरीर और मन तो समय के साथ बदलता है, लेकिन यह तो स्थाई रहती है। कई लोग तब भी ले जाते हैं जब उनकी संगिनी गर्भवती होती है और यौन-संबंध इष्ट नहीं होता। ये खिलौने किसी बात का बुरा नहीं मानती, और इनका मासिक स्नाव भी तो नहीं होता। इतनी बड़ाई सुन कर लगा कि यह खिलौना बांध लेता जाऊँ लेकिन जेब और सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों के बोझ तले दब गया और लौट आया।

इस डच वाइफ़ से मुलाकात के बाद लगा कि यह वाकई है कमाल की चीज़। जापान के लोग नपुंसकता की ओर जा रहे थे। वहाँ की जनसंख्या घटती जा रही थी। ऐसे माहौल में कामोत्तेजना के लिए इन खिलौनों का आविष्कार हुआ। इससे एक काम-क्रांति आई और जापान में प्रेम का पुनर्संचार हुआ। इन खिलौनों ने खोया पौरुष (मोज़ो) वापस ला दिया, यह क्या कम है?

इस अश्लील वातावरण से निकल कर यह इच्छा हुई कि अब कुछ श्लील कार्य हो। दरअसल मैं इस यात्रा में एक शोध की वजह से आया था। मैं गिरमिटिया इतिहास के कुछ अंश तलाश रहा था, जो यहीं कहीं बिखरे पड़े थे।



## जो लौट के घर न आए

यहाँ की गिरमिटिया कड़ी की पहली मुलाकात एक ऐसे व्यक्ति से थी, जो नीदरलैंड के मशहूर भोजपुरी गायक थे। इस बात से ताज्जुब हो सकता है, लेकिन नीदरलैंड में ऐसे लगभग दो लाख लोग हैं जो सरनामी कहलाते हैं। इनके पूर्वज एक जहाज पर किसानी-मजदूरी करने कलकत्ता से सूरीनाम गए। सूरीनाम एक डच कॉलोनी थी, तो ये बाद में नीदरलैंड आ गए। उनका इतिहास तो मैं अलग से लिख रहा हूँ, लेकिन नीदरलैंड की यह मुलाकात भी बतानी जरूरी है।

नियत समय पर वह होटल से मुझे उठाने आ गए कि हम अगले शहर की ओर चलें जहाँ एक वयोवृद्ध हमें गिरमिटिया युग की कथाएँ कहेंगे। गाड़ी में मैं ऐसे व्यक्ति के साथ बैठा हूँ जिनका हिंदुस्तान से यूँ तो रिश्ता टूटे डेढ़ सौ वर्ष हो गए पर वह ऐसी खिलंदड़ हिंदी बोलते हैं कि कोई क्यों माने कि वह डच हैं। मुझे तो यूँ ही लगा जैसे गाँव के कोई बड़े भाई नीदरलैंड में मिल गए। वह गाड़ी चलाते वक्त भी क्रियाशील थे कि मेरा नीदरलैंड आना सफल रहे। और इसी बीच किन्हीं से डच भाषा में फ़ोन पर बात करते हुए वह ‘हनुमान चालीसा’ पाठ करने लग गए। मुझे समझ नहीं आया कि यह क्या माजरा है। पता लगा कि वह ‘हनुमान चालीसा’ के एक आधुनिक रूप में प्रस्तुति सहयोग दे रहे हैं। हालांकि वह भी हैं डच लोगों की तरह नास्तिक, लेकिन ‘हनुमान चालीसा’ से मोह है क्योंकि उसमें भारतीयता है।

लगभग आधे घंटे यूँ ही गाड़ी में बतियाते हम नीदरलैंड के हेग शहर पहुँच गए- सरनामी हिंदुस्तानियों का गढ़। इस शहर में लाख से अधिक लोग हिंदुस्तानी मूल के हैं, और उन्हें पहचानना मुश्किल नहीं। भारतीय को पहचानना कहाँ मुश्किल होता है? रंग, चाल-ढाल सब जानी-पहचानी होती है, चाहे कहीं भी उठा कर रख दो। पीढ़ी-दर-पीढ़ी अमरीका-यूरोप में बिता कर, नाम-उपनाम बदल कर, विदेशियों से विवाह कर भी भारतीय से भारतीयता निकालना असंभव है।

जब हेग शहर के उस लाल इमारत में पहुँचा तो यूँ लगा जैसे अपने ही किसी फूफा-चाचा से मिलने आया हूँ। शक्ल भी मिलती थी। उनकी मुझ से, मेरी उन से। तभी मिल कर कोई उत्साह नहीं जगा। इतनी दूर का सफर कर आओ, और अपनी शक्ल-सूरत का संबंधी मिल जाए तो सफर छोटी लगने लगती है। कुछ दूर और जाता, तो शायद कोई अजनबी मिल जाता। यह तो अपने सूरीनाम वाले मौसा निकले। कोई गाँव का पंजियार होता तो अब तक संबंध स्थापित कर चुका होता कि इनकी पत्नी और मेरी माँ के परदादा एक दूसरे के फुफेरे भाई के ममेरे थे।

उन्होंने कहा, “मेरे दादा भारत से थे, और दादी पाकिस्तान से थी।”

नहीं-नहीं, उन्होंने शायद यह कहा कि उनकी दादी जिस इलाके से थे, वह अब पाकिस्तान चला गया। थे तो दोनों हिंदुस्तानी ही।

उन्होंने आगे कहा, “शायद राजपूत बनिया थे।”

मैंने कहा, “राजपूत बनिया नहीं होते। अब अगर होते भी हैं, तो पहले नहीं होते थे।”

उस वक्त पूँजीवाद न था कि सब बनिया होते। उस वक्त समाजवाद भी न था कि सब राजपूत ही होते। उस वक्त था क्या? जब कार्ल मार्क्स नहीं जन्मे थे, तब भी तो दुनिया कुछ न कुछ होती ही होगी।

तभी मेरे अंदर से आवाज आई, “मूर्ख! तब साम्राज्यवाद था। उपनिवेशवाद था। सामंतवाद था। और उसी युग की तो संतान हैं ये सरनामी, जिन्हें सामंतों ने किसी दूसरे ग्रह पर जाकर पटक दिया था।”

कद में वह मुझसे छोटे थे। मेरे कंधे तक आते थे। जबकि उनके पूर्वज तो पाकिस्तान से थे, जहाँ लोग लंबे होते हैं।

उन्होंने कहा, “मेरे नाना तो पठान सरीखे लम्बे थे।”

मैंने कहा, “मेरे नाना भी लम्बे थे।”

लेकिन कब तक हम पूर्वजों की लंबाई को ढोएँगे? मैं ढो रहा हूँ, उन्होंने त्याग दिया। उन्होंने अपना कद चुन लिया, और मैं उसी कद का रह गया। वह कद लेकर ही क्या करूँगा, जो पूर्वजों से विरासत में मिली? इससे बेहतर तो ठिगना होता, जो मेरा अपना कद होता। न किसी नाना का, न किसी दादा का। इन्होंने इस लंबे सफर में डार्विन पर विजय पा ली। हम वही मेंडल के मटर रह गए।

उनसे लंबी बातचीत और एक चाय के बाद हम शराब खरीदने निकल पड़े। मुझे यही लगा कि नीदरलैंड में सभी लोग शाम को शराब खरीदने निकलते होंगे। जैसे भारत का एक तबका काम के बाद ताड़ी-शराब पीकर सो जाता है, नीदरलैंड मुझे ऐसा ही नजर आया था। लेकिन मुझे मालूम पड़ा कि हम शराब खरीदने नहीं निकले थे, हम तो मांस खरीदने निकले थे। शराब तो घर में थी ही। शराब खरीदने तो गरीब मजदूर निकलते हैं। बड़े लोगों के घर में शराब होती ही है। घर का एक कोना ‘बार’ होता है, जहाँ अप्सराओं सी तराशी बोलतें सजी होती हैं।

घर पहुँच कर सरनामी भोजन की तैयारी होने लगी। इसका मसाला सूरीनाम में ही तैयार हुआ था। तो यह हिंदुस्तानी गरम मसाला ही, लेकिन इसकी सुगंध अलग थी। भारत और सूरीनाम के मध्य मिट्टी बदल गयी, तो उस मिट्टी के लौंग-इलायची भी बदल गयी। लेकिन कमाल की बात यह है कि चार पीढ़ियों बाद और यूरोप आकर भी मसाले वही चल रहे हैं। भारतीय सुगंध एक डच नागरिक के किचेन में बस इसलिए मिल रही है कि सदियों पहले इनके पूर्वज भारत से आए थे? मुझे तो अन्यथा ऐसे भारतीय भी अमरीका में मिले जो एक पीढ़ी में अमरीकी बन गए। वहीं का भोजन,

वहीं की संस्कृति अपना ली। सरनामी क्यों यह बचा पाए? इसकी वजह आसमानी नहीं, जमीनी है। बस यूँ कहिए कि ग्राम-संस्कृति की आदतें देर से जाती हैं, या शायद कभी नहीं जाती। शहरी संस्कृति में बदलाव आसान होता है। मैं एक उदाहरण देता हूँ।

सोचिए कि आप दस साल से दिल्ली नहीं गए, और जब दिल्ली पहुँचे तो निजामुद्दीन से पटपड़गंज का पुराना रास्ता तलाशते हैं तो नहीं मिलता। वहाँ नया प्लाइओवर दिख जाता है। आप आगे बढ़ते हैं तो आपके प्रिय सिनेमा हॉल की जगह एक बड़ा शॉपिंग मॉल नजर आता है। जिस चाय की दुकान पर आप चाय पीते थे, वह दुकान तो खैर रही नहीं, वहाँ वह गली भी नहीं नजर आती जिसमें छोले-कुल्चे वाला फेरी लगाता था। सब कुछ बदला-बदला सा है, और आप भूल जाते हैं कि कभी आप इसी शहर में रहते थे। गाँव भी बदलता है, सड़कें बनती हैं, प्रधानमंत्री योजना से ईंटें बिछती हैं, पर आमूल परिवर्तन नहीं नजर आता। गाँव के खेत, गाँव के मकान, गाँव के पुराने पेड़, वह मंदिर, वह कुआँ, सब कुछ अपनी जगह पर मिल जाते हैं। अगर गाँव भी इसी गति से बदलने लगे तो वह भी शहर कहलाएँगे। दिल्ली के आस-पास के कई गाँव नोयडा, ग्रेटर नोयडा, नोयडा एक्सटेंशन, अलाना रिपब्लिक, फलाना ग्रीन्स बनते चले गए। अब उनमें गाँव का भूत भी नहीं बसता। तो गाँव के लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी अधिक नहीं बदलते। इसलिए सरनामी का मसाला भी नहीं बदला।

भोजन में दाल, भात, मुर्गा और बैंगन का चोखा था। दाल तो इब्नबतूता के समय भी भारत में खाते थे। मुर्गा अमरीकी महाद्वीप का प्रिय पंछी है, तो वहाँ से आया। और चोखा? यह बैंगन का भरता ही असल माल है जो सरनामी गिरमिटिया पोटली में बाँध लेकर गए और खानदानी जड़ी-बूटी की तरह अब तक साबुत बचा रखा है। चोखे को साबुत बचाना भी विरोधाभास है। चोखा तो बनता ही बैंगन को जला-पका कर उसके आमूल अस्तित्व-मर्दन से है। लेकिन इस सरनामी की मेज पर यह बैंगन का चोखा सिद्ध कर रहा है कि 'बिग-बैंग' से ही सृष्टि का सृजन हुआ।

भोजनोपरांत हम संगीत के कमरे में दाखिल हुए। जलसाघर कहिए या म्यूज़िक रूम। यह हर घर में नहीं होता। बेडरूम होता है। डायनिंग रूम होता है। ड्राइंग रूम होता है। बाथरूम। स्टडी रूम। गेस्ट रूम। सर्वेंट रूम। स्टोर रूम। रसोई घर। पूजा घर। हम घरों को बाँटते चले जाते हैं। लेकिन उनमें संगीत का कमरा भला क्यों होगा? टी.वी. बड़े से बड़े होते चले गए और रेडियो छोटे से छोटे। अब तो इस कदर आ गए कि कान में कुछ खोंस लो, संगीत अपने-आप कृष्ण के गीतोपदेश की तरह आ जाएगा। यह अच्छा ही हुआ। भला क्यों बड़े-बड़े स्पीकर से कानों के परदे फाड़ना? लेकिन संगीत का घर दर्शनीय था। यूँ लगा जैसे किसी नवाब के कोठे पर आ गया।

एक कोने में तानपुरा मुस्कुरा रहा है, जैसे कह रहा हो, “मैं तानपुरा। पहचाना? मैं मिराज से आया हूँ।”

और साथ दारें-बारें बैठे तबले मेरठिया मुस्की देते उस पर हँसने लगे और कहा, “तेरी बिसात ही क्या है? बजेँगे तो हम ही, तुम्हारी तो बस कान खींची जाएगी। तुम्हें कौन सुनेगा?”

तबले को हारमोनिया ने लताड़ा, “तुम तो बस सम दोगे। मैं अगर सम देने ही न दूँ, तुम तो बस

मुँह खोले खड़े रह जाओ।”

कितने जीवंत हैं ये यंत्र! यह खिलाँने तो बिना बोले ही बतियाते हैं। और जब बोलें तो? इन्हें बाँधना पड़ता है, साधना पड़ता है। थोड़ी ढील दी और बेसुरे हुए।

मैंने पूछ लिया, “भला नीदरलैंड में संगीत की क्या धुन चढ़ी? फुटबॉल-हॉकी खेलते, खूब डॉलर-यूरो कमाते। हम भी कहते कि वह देखो भारतीय मूल का आदमी बड़े लीग में खेलता है।”

उन्होंने कहा, “मैं पहले फुटबॉल ही खेलता था। रक्षक पंक्ति का बेहतरीन खिलाड़ी था। मजाल है कोई चीर कर गोल दाग दे। कभी लंगड़ी लगा दूँ। कभी बने-बनाए बॉल को हवा में उड़ा कर सारा भंडूर कर दूँ।”

मैंने टोका, “रक्षक-पंक्ति से बेसुरा खिलाड़ी तो कोई होता ही नहीं। उसका कार्य ही है खेल बिगाड़ना। भला वह क्या संगीत बजाएगा?”

उनका जवाब मिला, “संगीत और खेल का साम्य बैठा भी नहीं। मैं जैसे-जैसे संगीत सीखता गया, मैदान में लंगड़ी लगाने और लड़ने की क्षमता घटती गयी। मैं सौम्य होता गया, और आखिर खेल त्यागना पड़ा।”

और इस तरह एक फुटबॉल का डिफेंडर संगीतकार बन गया। उस्ताद बड़े गुलाम अली खान और बिस्मिल्लाह खान ठीक ही कहते थे कि गर हिंदुस्तान का हर बच्चा संगीत सीख जाए, तो फसाद ही खत्म हो जाए।

जब महफिल जमी तो हारमोनियम पर शास्त्रीय ग़ज़ल गायकी, और जाँघ पर तबला बजाता मैं। एक के बाद एक नज़्में-बंदिशें चलती रही, और हम झूमते रहे। संगीत की महफिल में अधिक लोग नहीं चाहिए। एक गायक और एक रसिक काफी है। एक दफे पं. भीमसेन जोशी के कॉलेज़िया आयोजन में हम मात्र आठ छात्र पहुँचे। शर्मिंदगी से बचने के लिए लोग छात्रावास से बुलाने भेजे गए तो पंडित जी ने कहा, “जरूरत नहीं। यह आठ श्रोता पक्के हैं जो यहाँ आए हैं। कोई बेमन आकर बैठे तो गायक को क्या आनंद आएगा?”

यहाँ भी बस एक गायक और एक रसिक। और गायक भी अव्वल दर्जे का। ऐसी बंदिश गाए कि तबलची सम ढूँढते रह जाएँ कि कहाँ बंदिश को पकड़ें। कुछ देर में मैं भी रंग में जम गया और एक ग़ज़ल मैंने भी गा दी। “कल चौदहवीं की रात थी...”

अगली सुबह हार्लेम में होनी थी। हार्लेम नाम न्यूयॉर्क के एक बदनाम कस्बे की याद दिलाता है जहाँ मैं जैसे ही गाड़ी ले गया, दसियों अश्वेत आकर गाड़ी का बोनट बजाने लगे और नाचने लगे। जैसे चिड़ियाघर में नया जानवर आया हो। वहाँ से मैं कैसे निकल कर आया, यह तो अलग ही कहानी हो जाएगी, फिलहाल नीदरलैंड के हार्लेम चलता हूँ। उन्नेख्त के होटल से सामान पीठ पर लाद कर मैंने हार्लेम की ट्रेन पकड़ ली। वहाँ एक प्रोफेसर साहब से मुलाकात थी जो गिरमिट इतिहास पर तीन मोटी किताबें और तमाम शोध कर चुके हैं। जाहिर है, वह स्वयं गिरमिट थे।

लेकिन गिरमिट शोधी में भी गरम दल और नरम दल के लोग थे। हार्लेम के यह प्रोफ़ेसर नरम दल के थे, और यही वजह थी कि इनसे मिलने की इच्छा पहले थी।

कुछ लोग मानते हैं कि भारत से जहाज पर इतने मजदूरों को उठा ले जाना एक बहुत बड़ा अन्याय था जिसकी कीमत डच और ब्रिटिश सरकारों को चुकानी चाहिए। ये लोग गरम दल के हैं और कुछ मानते हैं कि इस अन्याय से उनका भविष्य सुंदर हुआ, और अगर वह भारत से उस वक्त नहीं जाते तो गाँव में गरीबी में रह रहे होते। ये नरम दल के हैं।

अब सोचिए, आज डेढ़ सौ वर्ष बाद भी उनके परिवार के भारतीय बुरी हालत में हैं, जबकि यह महाशय हार्लेम स्टेशन के ठीक सामने बड़े बंगले में रह रहे हैं। सच पूछिए तो अनाथपुर (दानापुर, बिहार के निकट) के इस वंशज का बड़ा नाम बोर्ड पर देख कर दिल बाग-बाग हो गया। एक पल के लिए लगा कि यह पूरा गाँव ही क्यों नहीं सूरीनाम चला गया? लेकिन सूरीनाम जाना अगर नियति बन जाए तो जीवन का मूल्य सिकुड़ कर दक्षिण अमरीका के एक छोटे देश जितना न हो जाएगा?

प्रोफ़ेसर साहब के साथ चाय पर बैठे साक्षात्कार रिकॉर्ड करने लगा। एक व्यस्त कमरा। कमरे भी व्यस्त होते हैं। एक दार्शनिक ने कहा है कि अगर आपकी मेज साफ-सुथरी है तो आप निकम्मे व्यक्ति हैं। फ़ाइलें, और उन फ़ाइलों के मध्य भी फ़ाइलें। किताबें, और किताबों के मध्य काग़ज। कम्प्यूटर के किनारे एक छोटा कम्प्यूटर। कलम के किनारे पेंसिल। एक बड़ी तस्वीर के नीचे कई छोटे तस्वीर। एक चश्मा। एक पेपरवेट। एक गुलदस्ता। हम व्यस्त कमरे से हट कर एक कम व्यस्त कमरे में बैठ गए। यह कमरा बड़ा था। इसे कमरा न कह कर हॉल कहना ठीक होगा। इसलिए भी कि इसमें एक फ़ानूस भी लटक रहा था। फ़ानूस कमरों में नहीं लटकते। इस हॉल में देस-बिदेस की पेंटिंग भी लगी थी। भारत की, दक्षिण अमरीका की, यूरोप की। प्रोफ़ेसर साहब भी इन पेंटिंगों से निकल कर ही मेरे निकट बैठे। लेकिन मैंने निकलते नहीं देखा कि किस पेंटिंग से निकले। मैं जब आया, वह पेंटिंग से बाहर ही खड़े मिले। जब अकेले होते होंगे तो बारी-बारी से एक पेंटिंग से दूसरे पेंटिंग में बैठते होंगे। उनकी रंगत से लगा कि इटली के टोरकैनो के अफीम बागानों में कहीं घुसे बैठे थे। वह पेंटिंग कितनी लाल थी!

उसी हॉल में एक कोने में सितार, तानपुरा, तबला और हारमोनियम भी थे। इनके घर में अलग 'म्यूज़िक रूम' नहीं था। 'ड्राइंग-रूम-म्यूज़िक रूम' था। डाइनिंग रूम अलग था। इन्होंने खाने पर बुलाया भी नहीं था। क्यों बुलाते? एक वृद्ध अकेले इस घर में किताबों, पेंटिंगों, और संगीत के मध्य रहता है। इसमें कहाँ मैं बैंगन के भर्ते की उम्मीद करूँ? सोचा कि पूछ लूँ कि यह संगीत के वाद्य-यंत्र किस लिए हैं? फिर लगा कि यह क्या वाहियात प्रश्न है। वाद्य-यंत्र किस लिए होते हैं?

हमने लंबी बात की गिरमिटिया इतिहास पर। बातों-बातों में ही उनका अकादमिक विश्लेषण बाल-उत्साह में बदल गया। जब वह सूरीनाम के खेतों में दौड़ते थे, और उनके दादा उन्हें दुलार करते थे। वही दादा जो बिहार से कभी जहाज पर कंगाल आए थे, अब वहाँ के जमींदार थे।

वह अपने दादा की कहानी कहने लगे, “लोग उन्हें ‘महाशय’ बुलाते थे। उनके खेतों में

इंडोनेशिया के किसान काम करते। अनुशासित और शांत प्रवृत्ति। वह काम करने भी आते तो पंक्ति बना कर, और जाते भी पंक्ति बना कर। उनके विपरीत स्थानीय अफ्रीकी क्रियोल अवखड़ और उदंड से थे। लेकिन भारी-भरकम काम करने में उनकी जरूरत अधिक पड़ती।”

कमाल की बात यह है कि सामंतवाद की मार से भागे भारतीय यहाँ आकर सामंत बन गए थे। क्या पृथ्वी के दो विपरीत बिंदुओं पर परिस्थितियाँ भी विपरीत हो जाती हैं?

प्रोफ़ेसर साहब से जब विदा लेने लगा तो उन्होंने पूछा, “मेरी दादी को सब ‘सहुआइन’ क्यों बुलाते थे?”

मैंने कहा, “शायद वह बनिया रही हों। आपको अपनी जाति तो पता होगी?”

उन्होंने जवाब दिया, “नहीं! सूरीनाम में किसी को अपनी जाति ठीक से पता नहीं। अगर वह बनिया रहे भी होंगे तो जाति बदल ली होगी। ब्राह्मण, खत्री, बनियों को डच जमींदारों ने सीधे तौर पर मना कर रखा था। उनका मानना था कि इन जातियों के लोग काम कम, पोलिटिक्स अधिक करते हैं।”

मैंने कहा, “डच को झूठ बोल कर आए होंगे। सहुआइन होगी तो बनिया ही।”

वह हँस पड़े।



## वेश्याओं के देश में

खैर, हार्लेम की बातचीत खत्म हुई और मैं वापस एम्सटरडम लौट आया। उस शहर जहाँ लोग वाकई आते हैं। यह उन्नेख्त-हेग-हार्लेम तो यूँ ही रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिए हैं। शहर तो एम्सटरडम ही है। लेकिन वह कोना कहाँ होगा जहाँ गांजा और वेश्यावृत्ति चरम पर होगी? जरूर कोई कोना ही होगा। शहर के बीच ऐसे इलाके कहाँ होते हैं? एम्सटरडम का सोनागाछी भी शहर के एक छोर पर ही होगा। मैं एम्सटरडम स्टेशन पर उतर कर दायें-बायें देखने लगा और वहल-कदमी करने लगा कि किसी जानकार से पूछ लूँ कि इतने में वेश्यालय आ गए। यह तो शहर के केंद्र में ही हैं!! बड़ी-बड़ी इमारतों के सामने भीड़ लगी है, लोग तस्वीरें खिंचवा रहे हैं, और वहीं वेश्याओं की गलियाँ दिख रही हैं। गांजा की बड़ी दुकानें और संग्रहालय नजर आ रहे हैं। सेक्स-टॉय की आलीशान दुकानें। इस शहर का यही उत्सव, यही सौंदर्य है।

वेश्यालय दुनिया में कई होंगे। भारत में ही कई हैं। मेरे लिए ये बाल्य-कौतुक से भरे स्थल हैं, जहाँ मैं घंटों गुजार सकता हूँ। हालांकि जो यहाँ काम से आता है, वह घंटों नहीं गुजारता। इन्हें नहीं निहारता। और इन संकरी गलियों और इमारतों से भी उसका ताल्लुक नहीं रहता। यह अंधेरी सड़क अंधेरे में ही निकल जाती है। लेकिन मेरे लिए यह प्रकाशमय सौंदर्य है। इनमें बसी स्त्रियाँ, उनके छोटे बच्चे, उनका परिवार, उनके पति, उनकी राशन की दुकानें, उनके रोजमर्रा की गप्प-शप्पा जब पुणे में था तो एड्स कार्यक्रम के लिए बुधवार पेठ की गलियों में अक्सर जाना होता। यह कार्यक्रम दिन का होता, जब वेश्यालयों का रूप-रंग बदल जाता है। कुछ यूँ कि जैसे कनक-कुमकुम में सजी सुंदरी अगली सुबह सूती नाइटसूट और बिखरे बालों में दूधवाले से जिरह कर रही हो। वेश्या की रात और सुबह में भी वही अंतर है जो अन्य स्त्रियों के। उनकी सुबह चाय उबालते, झाड़ू-पोछा करते, पानी के लिए झगड़ते, बच्चे को स्कूल के लिए संवारते, पुरुषों के लिए डब्बा तैयार करते ही होती है। उनकी साड़ी रेशमी से सूती, और चप्पल कोल्हापुरी से हवाई चप्पल बन जाते हैं। उनकी चाल-ढाल प्राकृतिक हो जाती है। वे खुले में चटाई बिछा कर आँखों पर साड़ी का पल्लू डाल सोती हैं। हम समूह में उनके घर जा-जा कर बतियाते। इतने में कोई बच्चा अपनी बहती नाक लेकर कौतूहल में माँ के साथ खड़ा हो लेता। हमें उस मुहल्ले में एड्स के मरीज कम मिलते, एक दूसरी झोपड़पट्टी में अधिक। जिनकी जीविका ही यौन-संबंध हो, वे तो सचेत रहेंगे ही। दूसरी झोपड़पट्टी में कन्डोम बाँट कर आने वाली टीम ने कहा कि बच्चे कन्डोम को बैलून बनाकर खेल रहे थे। एक व्यक्ति कंडोम को चिंगम समझ कर चबा गया और थू-थू कर गलियाँ बक रहा था। मेरे जेहन में आया कि क्यों न ये वेश्यायें ही सामाजिक यौन-विशेषज्ञ बन जाएँ? इनसे बेहतर इस विषय का ज्ञान किसे?

नीदरलैंड के वेश्यालयों और पुणे या जी.बी. रोड के वेश्यालयों में जमीन-आसमां का अंतर है। एक

ओर एम्स्टर्डम के शीशमहलों में किसी नुमाईशी पुतले की तरह टू-पीस में खड़ी गौरवणी स्त्रियाँ, तो दूजी ओर अपनी तोंद को साड़ी की गाँठ से कसे, मुँह पर टैल्कम पाउडर पोते, पान-गुलकंद से होंठ सुर्ख लाल किए स्त्रियाँ। एक ओर ऊपर झाँकों तो सितारों से जगमगाता नील गगन, तो दूजी ओर सँकड़ी गलियों के ऊपर गुजरते बिजली के तार और टी.वी. के केबल। एक में छत पर रंगीन सी रोशनी और कमरे में एक नशीला धुआँ, तो दूजे में चकतेदार चूने की दीवारें और रेलिंग पर सूखती साड़ियाँ। एक में उन्हें देखो तो वह गोल घूम कर अपना बदन यूँ दिखाएँगी जैसे किसी काल्पनिक धुरी पर नाच रही हो, और एक में उन्हें निहारो तो हाथ दबोच कर यूँ ले जाएँगी जैसे किसी बच्चे को जबरदस्ती स्कूल-बस के लिए लिए जा रही हों। दरअसल किसी देश की तरक्की का मापदंड कोई इन्फोटेक पार्क या गगनचुंबी इमारते नहीं, उस देश के वेश्यालय हैं। कम्यूटर का सम्मान करने से देश महान् नहीं बनता, स्त्री के सम्मान से बनता है। और इन वेश्यालयों के बाहर बोर्ड पर एक बात स्पष्ट लिखी थी, “हमारी स्त्रियों के साथ कृपया बुरा व्यवहार न करें। आप इनकी इज्जत करेंगे, ये आपका बेहतरीन ख्याल रखेंगी।” यह कितनी साधारण सी बात है, जो चिड़ियाघरों में भी लिखी मिलती है। फिर भी मनुष्य इस ज्ञान से अंजान है। जो स्त्री को पैर की जूती समझते हैं, वे न चिड़ियाघर के हकदार हैं, न वेश्यालय के। उनकी जगह तो तथाकथित सभ्य समाज में है।

मैंने सोचा कि वेश्यालय तो आ गया, लेकिन अब यहाँ करूँ क्या? अब तो मैं उस जिम्मेदारी से भी नहीं आया कि एड्स का ज्ञान परोसूँ और यह भी उस पंजाबी मित्र ने बता दिया था कि यहाँ की महिलाओं को गुप्त-रोग नहीं। यह बात पुणे की वेश्याओं से मिलती-जुलती है। यह आदम जमाने से ही चलता आ रहा है, और इसकी शुरुआत कलकत्ता में भी हुई थी। जब लाट साहबों का भारत में राज था, तो उन्होंने कलकत्ता की वेश्याओं के लिए यह नियम बनाया था। वे धातु की पतली दूरबीन योनि में घुसा कर जाँच करते थे जिसे इतिहासकारों ने यांत्रिक बलात्कार (इंस्ट्रूमेंटल रेप) कहा। इस यांत्रिक बलात्कार के पश्चात् ही वेश्या प्रमाण-पात्र मिलता और मानवीय बलात्कार प्रारंभ होता। अब तो नयी तकनीकें आ गयीं, और इन वेश्याओं को शायद हर महीने या हर रोज अपनी योनि हस्पताल के फर्शों की तरह चमका कर रखनी पड़ती होगी। इतनी स्वच्छ योनि संभवतः विश्व में कहीं उपलब्ध न हो। इन बातों में विरोधाभास है, लेकिन इस संसार की नींव ही विरोधाभासों पर टिकी है। तो एक और सही।

वेश्यालयों के बाहर कुछ गंवई मेलों की तरह बाईस्कोप का खेल था। सिक्का डालो, तमाशा देखो। आलम यूँ था कि एक गोल शीशे के कमरे के अंदर कोई यौवना अंग की नुमाईश करेगी और लोग उस कमरे के बाहर लगे दसियों छोटे-छोटे फ़ोनबूथ सरीखे कमरों में खड़े उन्हें निहारेंगे। सिक्का डालते ही उनका शीशा दो मिनट खुलेगा, और दो मिनट बाद आँखों से ओझल। सिक्के डालते रहिए और देखते रहिए। यह प्रक्रिया कहीं से नवाबी मुज्रों के करीब न थी कि मसनद लगाए हुक्का पीते देख रहे हैं। यह तो कुछ यूँ था जैसे किसी सरकारी दफ़तर की काउंटर वाली लाइन में रसीद कटाने खड़े हैं। बस काउंटर पर खड़े बाबू के बदले एक गौरांगना का नग्न शरीर। लेकिन उस काउंटर पर खड़े तमाम लोग जीभ निकाले अजीब बेहूदे लग रहे हैं कि मैंने कहा कहाँ आ गया। यह बेहतर है कि इस शहर में मुझे कोई नहीं जानता। अगर ऐसे केंद्र अपने शहर में खुल जाएँ तो सबकी नंगई सामने आ जाए। आदर्शों की टपकती लार कि वह देखो, फलाँ

बाबू कैसे सुंदरी के कूल्हे निहार रहे हैं!

वहीं निचले तल में एक वेश्यावृत्ति संग्रहालय भी था। इससे पहले मैंने ऐसा अजीब संग्रहालय आईसलैंड की राजधानी रेक्याविक में देखा था। वहाँ तो खैर लिंग का संग्रहालय था, एम्सटरडम में स्त्री योनि का है। इन दोनों देशों के मध्य नॉर्वेज़ियन समुद्र। संग्रहालय वाकई संग्रहणीय वस्तुओं से भरा था। वेश्यावृत्ति के इतिहास से वर्तमान तक। उस गोल कुर्सी पर बैठ कर देखना, जिस पर वेश्या रोज घंटों बैठती है और शीशे के बाहर खड़े पुरुष हाथ की उंगलियों से मोल-भाव करते हैं। कोई बस यूँ ही खड़ा घूरता रहता है। कोई देख कर मुँह फेर लेता है। शरीर की नुमाइशी में कब शृंगार वीभत्स बन जाता है, पता ही नहीं चलता। यहाँ इनकी गुप्त दुनिया देख कर यूँ लगा जैसे मरीजों के वार्ड में चिकित्सकीय राउंड ले रहा हूँ। एक कमरे से जुड़ा दूसरा कमरा, और दूसरे से तीसरा कमरा। दरवाजे नजर नहीं आते, बस झालरदार पर्दे। हर कमरे में एक मखमली बिस्तर, बिस्तर के किनारे मेज पर एक वाइन की बोतल। स्ट्रोब लाइट से निकलती धुआँधार रोशनी। किसी विदेशी अगरबत्ती की सुगंध। और वहीं कोने में मंद मुस्काते (या शायद हँसते) गौतम बुद्ध! उस कमरे में ही एक छोटी मेज के दरजों में वेश्याओं के कपड़े भी चपेट कर रखे हैं, जो वह फटाफट बदलती होंगी। कमरे के अंदर ही टॉयलेट-सीट भी है, और एक कचड़े का डब्बा जिसके अंदर लिंगटोपियाँ बिखरी पड़ी हैं। यह सब देख कई लोग नाक-भौं सिकोड़ रहे थे, लेकिन मैं बड़ी बारीकी से परीक्षण कर रहा था। मैंने कहा ना कि मुझे लगा कि मरीजों के वार्ड आ गया हूँ और रोग समझना चाह रहा हूँ। इन्हीं कमरों से गुजर कर बाहर निकला तो एक स्मारिका नजर आयी। यह स्मारिका उन सभी स्त्रियों को समर्पित थी जिनका कभी यौन-शोषण हुआ हो। ऐसी स्मारिका मैंने कहीं आज तक नहीं देखी। इतनी संवेदनशीलता की उम्मीद शायद इस कमरे से बाहर की भी नहीं जा सकती। मुझे अब समझ आया कि यहाँ आखिर बुद्ध क्यों थे।

संग्रहालय से निकल कर देखा तो अब शाम हो गयी थी, और 'रेड लाइट डिस्ट्रिक्ट' की लाल रोशनी से यह गली रोशन हो चुकी थी। नहर और नहर के दोनों ओर बाज़ारा शरीर का बाज़ारा अब भीड़ भी बढ़ गयी थी। इस भीड़ में महिलाएँ पुरुष से अधिक थी। यह अन्य 'रेड लाइट' मुहल्लों में कम नजर आता है कि महिलाएँ टहलने आ जाए। और यह तो अकल्पनीय ही है कि पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका घूमने आ गए और वेश्यालय के बाहर बोर्ड टंगा हो कि 'हम आपके पति का अच्छा ध्यान रखेंगे'। मुझे पहले लगा कि यह चुटकुला है, लेकिन बाद में लगा कि यह तो गंभीर मुद्दा है। पत्नियाँ अपने पति को वेश्यालय में छोड़ शॉपिंग पर निकल गयी कि घंटे-दो घंटे बिता लो। मुझे 'छोटे नवाब' फिल्म का वह गीत याद आता है, "घर आ जा, घिर आई बदरा साँवरिया" जिसमें महमूद कोठे पर बैठे हैं और उनकी पत्नी उनके इंतजार में ग़मगीन है। यहाँ तो मामला ही उल्टा है। वेश्या के पास यूँ छोड़ गयी जैसे आया के पास बच्चा छोड़ जाती हों। संभव है, ऐसा कुछ न हुआ हो। मेरा वहम हो। वे बस हँसी-मजाक में घूम रही हों। लेकिन शोधी व्यक्ति हूँ तो सोचा तपस्वीश कर लूँ।

संग्रहालय के पास ही एक मसाज़ पार्टर दिखा, तो लगा साक्षात्कार के लिए यह जगह उपयुक्त होगी।

एक शीशे के भीतर से झाँकती काली रेशमी टू-पीस में एक सुंदरी मेरे उस दरवाजे के आस-पास

आते ही बाहर आकर मुस्कुराने लगी। मैंने स्वयं को ऊपर से नीचे देखा कि भला मुझ में मुस्कुराने के लिए क्या है? फिर याद आया कि इस वक्त मैं ग्राहक हूँ और वह विक्रेता। हमारे मध्य यही संबंध है कि वह मुस्कुराए और हम पधुराएँ। वह हमें आकर्षित करें और हम भाव-हीन रहें। हम जैसे ही मुस्कुराए, समझो हम हारे। यह अगर विक्रेता न होकर यूँ ही कोई लड़की होती तो उसकी मुस्कुराहट से शायद धड़कन तेज होती, यहाँ तो धड़कन ज्यों-की-त्यों थी। मैंने भी यूँ निहारा जैसे मैं औरों को निहारता हूँ। उसकी आँखें देख समझ गया कि यह पूरब से है। पूरब यानी अपना देस नहीं। यूरोप के अंदर भी पूरब और पश्चिम है। और यूरोप का पूरब भी पच्छिम से गरीब ही है। रोमानिया और पोलैंड के मजदूर पच्छिम की ओर वैसे ही जाते हैं जैसे बिहार-यूपी. के मजदूर वेश्यावृत्ति में भी पूरब की स्त्रियाँ ही हैं। उनकी पहचान है नीली आँखें, गौरांग, सुनहरे बाल और लंबी टांगों वाला छरहरा बदन। यह उच्च कोटि की वेश्यावृत्ति नहीं कर पाती, क्योंकि इनका शरीर एथलेटिक है, मांसल नहीं। इनकी कीमत सस्ती है। उच्च कोटि की वेश्या पच्छिम की हो सकती है, या स्पैनिश मूल की। अफ्रीकी वेश्या की भी ऊँची कीमत हो सकती है। गौरे अक्सर काली वेश्या ढूँढते हैं और मेरे जैसे काले-भूरे पुरुष गौरांगना ढूँढते हैं। यह शायद न्यूटन का नियम भी है।

न्यूटन ने शाश्वत सत्यों को फॉर्मूला बना कर यूँ पेश किया कि लोगों को लगा नयी चीज बता रहा है। सेब गिरता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। किसी चीज पर बल न लगाओ, वह नहीं चलेगी। भला यह बातें तो मेरे गाँव का अनपढ़ भी बता दे। बस उसे लिखना, पेटेंट कराना, हौवा बनाना नहीं आता। न्यूटन को आता होगा। मुझे नहीं आता। शायद इसलिए यह मसाज़-गर्ल मुझ पर मुस्कुरा रही है। आम आदमी आम की तरह उसके सामने गिरा, और उसके मुँह से मुस्की छूटी।

मैंने अकड़ कर पूछा, “मसाज़ के क्या दर हैं?”

उसने कहा, “बस पचास यूरो।”

मैंने मन में कहा, “बस? पचास यूरो यानी पाँच हज़ार रुपए!”

फिर लगा हज़ार-दो हज़ार तो बेंगलूरी रंगरूट भी ले लेते हैं। एम्सटरडम में टू-पीस में खड़ी यह गोरी क्या ज्यादा मांग रही है?

मैंने फिर बहाना बना कर पूछा, “आप के पास क्रेडिट कार्ड चलता है?”

यह नपा-तुला प्रश्न था क्योंकि मेरे सामने दरवाजे पर ही अंग्रेज़ी भाषा में लिखा था- आज नगद, कल उधारा। मुझे मालूम था कि उसका जवाब नकारात्मक होगा।

उसने कहा, “ बस, वह सामने रहा ए.टी.एम.।”

अब मैं फँस गया। यह तो मामूली सा न्यूटनिया ज्ञान था कि इतनी मशहूर जगह पर ए.टी.एम. तो होगा ही। अगर यह कुछ दूर होता तो मैं कहता कि ढूँढ कर आता हूँ। अब तो मैं नगद-केंद्र और मसाज़ केंद्र के मध्य लटक रहा था। मेरी मुक्ति अब एक ही थी कि सीधे मना कर दूँ। लेकिन शोध

का क्या?

मैंने बस पहला प्रश्न खड़े-खड़े ही दाग दिया, “तुम्हारे पास आज कितने ग्राहक आए?”

उसने मुस्कुरा कर कहा, “आप ही प्रथम हो।”

बोहनी का वक्त है। यह तो ब्रह्मसंकट! बोहनी के वक्त में मना करना तो पाप है।

मैंने उससे सीधा ही कह दिया, “मैं ग्राहक नहीं, मैं तो बस यूँ ही।”

उसने पूछा, “आप पहली बार आए हो?”

मैंने अपने अनुभव की धौंस दिखाते कहा, “नहीं-नहीं, मैं तो अक्सर आता रहता हूँ। लेकिन इस जगह पहली बार आया।”

उसने फिर पूछा, “तुम्हें कितने यूरो देने हैं?”

मैंने कहा, “मैं बस कुछ पूछ-ताछ करना चाहता था। उसकी क्या कीमत होगी?”

वह हँसने लगी, और कहा, “पूछ-ताछ के पैसे नहीं। बस कोई ग्राहक आया, तो तुम्हें जाना होगा।”

मैंने कहा, “यूँ ही खड़े-खड़े बात करूँ या अंदर बैठ जाऊँ?”

उसने कहा, “हाँ हाँ! देख भी लो। क्या पता तुम्हें मसाज़ करने का मन हो जाए। पचास यूरो में ‘ब्लो-जॉब’ और मसाज़ दोनों।”

“और कितने समय?”

“पंद्रह मिनट।”

“और अगर अधिक देर रुकना हो?”

“पचास यूरो अगले पंद्रह मिनट के।”

“लेकिन क्या तुम घड़ी निहारती रहती हो?”

“मैं तो टाइमर सेट कर देती हूँ।”

“और बाकी लड़कियाँ? यानी जो दूसरे धंधे में हैं?”

“उनका भी औसतन यही दर है, लेकिन मैं सेक्स अभी नहीं करती।”

“क्यों नहीं?”

“मुझे इसी में ठीक-ठाक रकम मिल जाती है। और यह मैं करती आ रही हूँ।”

“कितने साल से?”

“चार साला”

“यहीं?”

“नहीं। यहाँ तो मैं इसी साल आयी। पहले मैं बेल्जियम में थी।”

“तुम बेल्जियम से हो?”

“नहीं। बुल्गारिया से।”

“ओह! मैं तुम्हारा नाम पूछना भूल गया।”

“मेरा नकली नाम है, जो मुझे लोग यहाँ कहते हैं।”

“नकली क्यों?”

“जो छोटा हो और बोलना आसान हो। कई देशों के लोग आते हैं।”

उससे बतियाते हुए मैं कमरे को निहारने लगा। एक चारपाईनुमा बिस्तर, जिस पर एक वेलवेट की चादर बिछी है। धीमी नीली-पीली रेशमी। एक दरारों वाली मेज। एक आईना। एक टॉयलेट सीट भी बिल्कुल सामने ही था, जिसके साथ एक सफेद मोटे प्लास्टिक का पर्दा लगा था। उसकी एक दरार आधी खुली थी, जिसमें कुछ शृंगार के हल्के-फुल्के क्रीम-पाउडर वगैरा थे। और मेज पर ही थी वह टाइमर वाली घड़ी। उस घड़ी के साथ ही निर्विकार बैठे थे - गौतम बुद्ध!

“इन्हें जानती हो?”

“बुद्धा!”

“यह भारत से हैं।”

“सच में? मुझे नहीं पता।”

“तुम्हें पता है इनकी मूर्ति यहाँ क्यों हैं?”

“पता नहीं। शायद शांति के लिए।”

“हाँ! शायद। तुम्हें एक बुद्ध की कहानी सुनाऊँ?”

“ओह! मैं फुटबॉल में शर्त लगाना भूल गयी!”

“कौन सी शर्त?”

“यहाँ हम फुटबॉल में पैसे लगाते हैं। मुझे बेल्जियम के लिए लगाना था।”



“तो अभी लगा लो।”

“अब देर हो गयी। वहाँ पाँच बजे तक ही लगा सकते हैं। अब तो सात बज गए।”

“कोई बात नहीं। बेल्जियम यूँ भी हार जाएगा।”

“शर्त हारने वाले पर ही लगाना चाहिए। अगर हारने वाले जीत गए तो मोटी रकम मिलेगी।”

“और हार गए तो?”

“शर्त तो लगानी ही उतने की चाहिए, जिसके हारने का दुःख न हो।”

“वाह! तुम तो शातिर हो।”

“इस वर्ल्ड-कप में मैं खूब जीती। इस बार कमजोर टीम ही जीतती गयी।”

“हाँ! इस बार तो कमाल हो गया।”

“चलो! अब शायद कुछ लोग बाहर घूम रहे हैं।”

“हाँ! तुम देख लो। मैं तो बस यूँ ही।”

और मैं उस मद्धिम रेशमी के कमरे से निकल कर लाल रेशमी वाली सड़क पर आ गया। मैंने मुड़ कर देखा नहीं, पर वह किसी ग्राहक से बतियाने लगी थी।

बुद्ध की कहानी सुनानी अधूरी रह गयी। एक बौद्ध-भिक्षु से नगर-वेश्या आम्रपाली आकर्षित हो गयीं, और उन्होंने आमंत्रित किया। अंतर्द्ध में फंसे भिक्षु बुद्ध से आज्ञा लेने पहुँचे।

उन्होंने पूछा, “मुझे आम्रपाली ने अपने आलय में चार महीने रुकने का न्यौता दिया है। क्या मैं जा सकता हूँ?”

बुद्ध ने कहा, “जाओ। जरूर जाओ।”

जब अन्य भिक्षुओं ने विरोध किया तो बुद्ध ने कहा, “उसने आम्रपाली को नाम से पुकारा। अन्य उसे वेश्या कह कर ही पुकारते हैं। मेरा विश्वास है कि उसकी साधना भंग न होगी। हाँ! आम्रपाली अवश्य बदल जाएगी।”

हुआ भी वही। चार महीने बाद जब वह लौटे, आम्रपाली को संन्यासिन बना कर ही लौटे।

न मैं बुद्ध हूँ, न मैं बौद्ध-भिक्षु। लेकिन इन वेश्यालयों में बुद्ध के होने की वजह मेरे मन में स्पष्ट है। इन दरवाजों पर यूँ ही नहीं लिखा कि हमारी स्त्रियों का आदर करें। यह कितनी साधारण न्यूटनिया बात है, लेकिन इसे कहना पड़ता है। जब तक कोई सिद्धांत बना कर न दे दे कि नारी का आदर हो, ग्रंथों में देवी-रूप में चित्रण न कर दे, नारीवादियों के सत्याग्रह न हो, यह बात नहीं समझ आती। तभी न्यूटन को लिखना पड़ा कि सेब गिरता है। न लिखते, तो लोग यही समझते

कि सेब तो पेड़ से उड़ कर हवा में चला जाता है। जैसे उन वेश्यालयों में जहाँ यह नहीं लिखा होता, लोग वेश्याओं को तिरस्कृत करते नजर आएँगे। भला न्यूटन और गौतम बुद्ध में क्या अंतर है? गौतम बुद्ध ने भी तो साधारण बात ही कही कि आम्रपाली को आम्रपाली कह कर बुलाओ। यह कह कर क्या तीर मार लिया? मैं भी कहता हूँ कि विनोद को विनोद कह कर बुलाओ, अगर उसका नाम विनोद हो। लेकिन मैं यह कहता नहीं। यह बात तो स्पष्ट ही है। जैसे यह कि नारी का आदर करना। मनुष्य का आदर करना। पशु-पक्षी का आदर करना। क्या यह बातें बताने भी कोई न्यूटन आएगा?

नहर के दोनों ओर शीशमहलों में वेश्यालयाँ और उन शीशों से झांकती आम्रपालियाँ। आम्रपालियों में सबसे सुंदर स्त्री किसी मानेविवन (पुतला) की तरह खड़ी थी। उसकी आँखों में देखा तो उसकी पलक भी नहीं झपक रही थी। मैं शीशे के बाहर से मुस्काया, तो वह न मुस्कायी। वह सजीव ही थी, लेकिन उसमें जैसे सौंदर्य का दंभ था। दंभ सजीव को निर्जीव तो बना ही देता है। जहाँ बाकी आम्रपालियाँ दरवाजा आधा खोल कर एक कदम बाहर रख लुभा रही थी, यह किसी राजनर्तकी की तरह अपने झरोखे से सब को देख रही थी। मैंने अंदाजा लगाया कि इसकी कीमत शायद तीन-चार सौ यूरो हो। पर पूछूँ किससे? वह तो शीशे के पीछे थी। और अगर अंदर घुसने का जुगाड़ कर भी लूँ तो वह मेरे साक्षात्कार के लिए बैठे, यह तो जरूरी नहीं। यहाँ कोई भारतीय वेश्यालयों की तरह दलाल भी नहीं नजर आ रहा था। जो बात करनी थी, शायद उससे ही करनी थी। मैंने दरवाजा ढूँढा भी, पर मिला नहीं। यह भी संभव है कि वह बेशकीमती हो, मात्र शो-पीस हो, जो खरीदी नहीं जा सकती। वह एम्सटरडम के वेश्यालय का पुतला मात्र थी। उसका ध्येय सम्मोहन था, समर्पण नहीं। यह बात छुपाऊँगा नहीं कि मैं सम्मोहित हुआ। जैसे कला-प्रेमी सम्मोहित होता है, या जैसा बौद्ध-भिक्षु सम्मोहित होता है। लेकिन कला-प्रेमी उसकी तस्वीर हू-ब-हू आज भी कागज पर उतार दे, बौद्ध-भिक्षु मैं यह क्षमता कहाँ? रेशमी बाल जिसकी कुछ लटें उसके स्तन को ढँकने का व्यर्थ प्रयास कर रही हों। बंगबाला सी सधी आँखें। शरीर जैसे एफ्रोडाइट की काया। दैवीया

खैर, वहीं एक शौचालय में कुछ मविखियों से दोस्ती हुई।

## वान गॉग की मक्खियाँ

मुझे लगा कि ये वाकई भिन्नभिन्नाती मक्खियाँ हैं, लेकिन गौर से देखा तो भित्ति-चित्र थीं। किसी ने यँ ही उकेर रखी होंगी, लेकिन उनका नामकरण मैंने वान गॉग की मक्खियाँ ही कर दी। मैं इस एक वर्ष में पाब्लो पिकासो, लियोनार्डो द विंची और रफ़ेल की असल चित्रकारी करीब से देख चुका था। माइकल एंज़ेलो और पायथोक्रिटस की बनाई मूर्तियाँ भी। अब विंसेंट वान गॉग की बारी थी।

वान गॉग की खासियत है कि कलाकारी समझ आती है। जो सामने दिख रहा है, वही चित्र में है। आलू खाते मजदूर। जमीन खोदते मजदूर। दक्षिण फ़्रांस के खेत। एक शयन-कक्षा। एक पल के लिए लगता है कि भला इनमें क्या खास है? यह तो कोई भी नौसिखिया कलाकार बना कर रख दे। लेकिन गौर से शयन-कक्षा में लगे बिस्तर को देखा। यँ लगा जैसे यह कल ही बनायी गयी है। सवा सौ वर्ष पूर्व नहीं। चटक रंग जो अब तक नहीं उतरे। उन्हीं से गुजरते वान गॉग की पेंटिंग देखी जो स्वयं वान गॉग ने ही बनायी थी। उन आँखों में एक विचित्र बात थी, जो मुझे उस गंजेड़ी मित्र की याद दिलाने लगी जो बाथरूम में लटक गया था।

वान गॉग भी पागलपन के शिकार थे। कलाकारों का पागल होना नयी बात नहीं, लेकिन वान गॉग का पागलपन भिन्न था। गरीब मजदूरों की तस्वीरें उकेरना उस पागलपन के समय ही शुरू हुआ। और वे तस्वीरें ही वान गॉग की मशहूर रही। उनके रंग भी धूसर और काले, चटक नहीं। जैसे एक अवसादग्रस्त व्यक्ति तस्वीर बना रहा हो। वान गॉग की इन तस्वीरों से गुजरते मेरे भी भाव बदल रहे थे।

उन्हीं तस्वीरों में एक तस्वीर को गौर से देखने लगा। एक खेत के मध्य रास्ता बना था, लेकिन रास्ता खेत के बीच ही गुम हो गया था। वह रास्ता कहीं जा नहीं रहा था। बीच में अचानक रास्ता यँ बंद हो गया था जैसे उस रास्ते का बनना ही गलत था। उस रास्ते के ऊपर काले कौवे मँडरा रहे थे, जैसे किसी अनिष्ट की आशंका हो। मुझे यकीन है कि इस चित्र को बनाने के बाद ही वान गॉग ने स्वयं को गोली मार ली होगी। हालांकि मैं इस बात की पुष्टि नहीं कर पाया, लेकिन यह तस्वीर भिन्न थी। एक बंद रास्ता और मँडराते कौवे।

मुझे इन तस्वीरों को देखते सॉमरसेट मॉम का उपन्यास 'मून ऐन्ड सिक्स पेन्स' याद आता है जिसमें एक चित्रकार वान गॉग की तरह ही पेरिस आता है, और एक फक्कड़ की जिंदगी जीता है। उसके भी प्रेमी-परिजन एक-एक कर आत्महत्या करते जाते हैं जैसे वान गॉग के। और एक दिन वह कुष्ठ रोग से अंधा होकर मर जाता है। हालांकि यह कथा पॉल गान्गुइन पर है, लेकिन वान गॉग से भी मिलती-जुलती है।

वान गॉग ने जब आत्महत्या की, उन्हें जानने वाले कम थे। वह गरीब ही मर गए। लेकिन आत्महत्या के बाद उनकी बनायी तस्वीरें इतनी मशहूर हुई कि आज मैं एम्सटरडम के बड़े संग्रहालय में बस उनकी बनायी तस्वीरें देख रहा हूँ। ऐसा कभी-कभार होता है कि लोकप्रियता मरने के बाद ही मिलती है। इतनी कि किसी की उकेरी मक्खियाँ देख भी आदमी कहे कि यह वान गॉग की मक्खियाँ हैं।

## हरामजादे 2.0

वॉन गॉंग की तस्वीरों को मन में लिए मैं नहर किनारे चलता रहा। न जाने कब मैं किसी जंगल जा पहुँचा। शहर शायद पीछे छूट गया था। इतनी दूर तो मैं न चल पाया होऊँगा कि एम्सरडम सरीखा शहर पीछे छूट जाए। यह भ्रम था। दरअसल यह किसी पार्क सरीखा था। सघन था तो जंगल नजर आ रहा था। नहर के किनारे चलते शायद यह जंगल खत्म हो जाए और शहर पुनः मिल जाए। लेकिन लगा कि अब थक गया हूँ। दो पल सुस्ता लूँ। एक पत्थर की बेंच पर बैठा तो सामने कुछ मूर्तियाँ लगी थी। यह इंडोनेशिया के शहीदों की थी। उसके साथ लगे पत्थर पर उनके नाम भी लिखे थे, जो अब याद नहीं। ऐसे कई पत्थरों पर कई शहीदों के नाम लिखे होंगे। कौन याद रखता है? इंडिया गेट पर कुल्फी खाने वालों को यह इल्म भी न होगा कि वह तेरह हज़ार फौजियों के स्मारक पर खड़े हैं। कहीं समर में मर-खप गए, एक दरवाजे पर कुछ नाम उकेर दिए, राष्ट्र ने अपनी भूमिका निभा ली। यह सुकून है कि उस गेट पर आज भी भीड़ लगती है, मोमबतियाँ गाढ़े-बगाढ़े जलती हैं, अमर जवान ज्योति भी अनवरत जलती है। इन इंडोनेशिया के फौजियों को तो मेरे जैसा भूला-भटका देखने आ गया तो आ गया।

मेरा अंदाजा सही था कि जंगल खत्म होते ही वापस शहर लौटेगा। यह वेष्टालय से अलग दुनिया थी। यहाँ भी शीशमहल थे, लेकिन इनमें कम्प्यूटर के मदारी बैठते थे। जैसे बेंगलुरु में बैठते हैं। अब इनकी ही सत्ता है। इस आधुनिक कबूतरखाने से ही दुनिया चलती है। इस कबूतरखाने की एक और खासियत है कि इन इमारतों से एक खास उम्र के लोग निकलते हैं। और उनका एक सा पहनावा होता है। एक सी सूरत होती है। एक सा चलने, उठने-बैठने का ढंग। कॉरपोरेट कबूतर और कबूतरा। ऐसे स्थानों पर मैं असहज हो जाता हूँ। एक कोना तलाशने लगता हूँ। और वह कोना मिलता नहीं। मायूस होकर उनके मध्य ही कुछ सिकुड़ कर बैठ जाता हूँ। फिर भी लोग मुझे इसी आश्वस्तता से देखते हैं कि मैं उनमें से ही एक हूँ। तभी सिकुड़ कर बैठा हूँ।

उन इमारतों के केंद्र में कुछ चलंत दुकानें थीं, पहिने वाली। शायद दुकानें एक नियत वक्त आती होंगी, और चली जाती होंगी। किसी दुकान में हॉट-डॉग बिक रहा है, तो किसी में चीनी नूडल। और किसी में समोसे। मैं समोसा खाने बैठ गया जो किसी पंजाब के ग्रामीण परिवेश के व्यक्ति की थी। कुछ हल्की-फुल्की बात कर मैं सीधे मुँहे पर आ गया।

“भला भारत से इतनी दूर समोसे की दुकान खोलने का क्या तुक है? कौन सा कुबेर का खजाना नसीब होगा?”

“जब आया, तब यह सोचा नहीं। पर अब लगता है ठीक ही किया।”

“क्या ठीक किया? आकर या समोसा बेच कर?”

“आकर। अब समोसा बेचो या इंजीनीयर बनो। क्या फर्क पड़ता है?”

“समोसे तो भारत में भी बेच लेते।”

“भारत में समोसे बेचने वाले लाखों लोग हैं। मेरी क्या जरूरत? मेरे यहाँ आ जाने से क्या समोसा बिकना बंद हो गया?”

“मैं समोसे की नहीं, ‘ब्रेन-ड्रेन’ की बात कर रहा हूँ।”

“ब्रेन-ड्रेन कुछ नहीं होता भाई। भारत की प्रॉब्लम ही यही है कि वहाँ ब्रेन बहुत हैं। आप क्या काम करते हो?”

“डॉक्टर हूँ।”

“आपके आने से डॉक्टरी बंद हो गयी क्या?”

“गाँवों में तो कम हैं ही।”

“गाँवों में लोग भी तो कम हुए भाई साहब! शहरों में देखो। एक मरीज के पीछे डॉक्टरों में कैसी खींचा-तानी चल रही है? कमीशन देकर मरीज ला रहे हैं, जाँच पर जाँच करा रहे हैं।”

“पर मेरे-आपके जैसे लोग जाकर सिस्टम तो सुधार सकते हैं?”

“हा हा! मेरे-आपके जैसे लोग! हम हरामज़ादे देश के न हुए, उनको क्या सुधारेंगे?”

“मैं तो लौट जाऊँगा।”

“और गाँव में सेवा करेंगे?”

“हाँ! क्यों नहीं?”

“मन तो मेरा भी करता है। लेकिन, फिर लगता है कि मन वहीं रहने दूँ, खुद यहाँ रहूँ।”

“यह तो दोगलापंथी है।”

“इस बात से तो बेहतर है कि रहूँ वहाँ और मन में विदेश रहे। अभी कम से कम मन तो देश में है।”

“यह अजीब कुतर्क है।”

“एक बात बताओ। अगर इस एम्स्टर्डम में आपको समोसा खाने का मन करे, तो कौन खिलाएगा? यह क्या कम बात है कि एक इंडिया यहाँ भी है?”

“फिर तो सब यहीं आ जाएँ? इंडिया बना लें।”

“सब कहाँ आ पाएँगे। अपना पंड, अपने खेत, अपने पेड़, अपने भगवान, अपनी जमीन, अपने लोग छोड़ कर आना सबके बस की कहाँ? यह तो हरामज़ादे ही कर पाएँगे।”

और वह हँसने लगा। वह मेरी उम्र का ही होगा। और उसने इतनी बार हरामज़ादे शायद न कहा हो। लेकिन उसकी बातों में भीष्म साहनी के ‘ओ हरामज़ादे’ कथा का पात्र दिखा, तो घुसेड़ दिया। और लिख इसलिए देता हूँ कि कोई यह न कहे कि मैंने चुरा ली। लेखक को यह भय तो रहता ही है कि उसका लिखा पहले तो न लिखा जा चुका। लेकिन यह भय निराधार है। हर बात कभी न कभी लिखी जा चुकी है। जैसे इस समोसा बनाने वाले को यह भय नहीं कि उससे पहले समोसे बन चुके हैं, वैसे ही लेखक को यह भय न हो कि उससे पहले कोई लिख चुका है। जिसने लिखा उसने मेरे हाथ से तो न लिखा। जो मेरे हाथों से लिखा गया, वह मेरी संपत्ति है। पूरी की पूरी नकल उतार दूँ, तो भी वह अलग होगी। और हरामज़ादे शब्द तो मेरे गाँव का अनपढ़ भी कहता है। वही, जो न्यूटन का सिद्धांत भी कहता है।

उस शाम एक व्यक्ति का फ़ोन आया जो मुझे नीदरलैंड में ढूँढ़ रहे थे। दरअसल वह ढूँढ़ कुछ और रहे थे, पर माध्यम मैं था।



## गांजा के देश में गांधी

लगभग एक दशक पहले एक खबर आयी कि गिरमिटिया जहाजों पर सफर करने वाले आखिरी गिरमिटिया की मृत्यु हुई। अंतिम गिरमिटिया। मोहनदास क. गांधी को पहला गिरमिटिया अन्य कारणों से कहा जाता है, लेकिन वह पहले नहीं थे। ठीक वैसे ही, यह मरने वाले भी अंतिम नहीं थे। अंतिम व्यक्ति वही थे, जिनके पुत्र आज नीदरलैंड में मुझे ढूँढ रहे थे। शायद इस पुस्तक के समाप्त होते-होते आपको यह अंदेशा हो जाए कि मैं पार्ट-टाइम गुप्तचर भी हूँ। शोधी और गुप्तचर एक ही हैं, अर्थ हम कुछ भी लगाएँ। हम मिले, हमने कुछ दस्तावेजों की अदली-बदली की, और हमारी गुप्तचरी गुप्त ही रह गयी।

उसी शाम सोचा कि अब उनसे मिलने चलूँ, जिनसे मिलने मैं आया था। गंजेड़ियों से। वेश्यावृत्ति का व्यवसाय जहाँ एक स्थान पर केंद्रित है, गांजा हर तीसरे कॉफी-हाउस में सहज उपलब्ध है। एक छोटी कटोरी में गांजा लीजिए, कागज में रॉल करिए और मारते चलिए। नीदरलैंड की शाम तो गांजा के साथ ही हो।

जब मैं निकटतम गांजा-केंद्र में दाखिल हुआ, साधारण सी भीड़ थी। सब बड़ी सहजता से गांजा पीते बतिया रहे थे। हर मेज पर एक ने यह जिम्मेदारी ले रखी थी कि बीड़ी वही तैयार करेगा। हालांकि यहाँ भारत की अपेक्षा कार्य सुलभ था। बीज और पत्ते पहले से अलग कर दिए गए थे। इसे बस कागज में सलीके से लपेटना था कि कड़की बनी रहे। कुछ इसके साथ तंबाकू भर रहे थे, कुछ शुद्ध गांजे की बीड़ी बना रहे थे। कुछ मात्र बीच-बीच में कटोरी उठा कर सूँघ रहे थे। किसी की आँखें लाल हुई पड़ी थी, किसी की आँखें निर्विकार थी। कोई बस धुआँ उड़ा रहा था, कोई मुँह में धुआँ भर गाल फुलाए बैठा था। कोई अपने जीवन के आखिरी कश लेने आया था, कोई आज अपनी वयस्कता स्थापित करने आया था। लेकिन उन सब में गंजेड़ी नजर नहीं आ रहा था। दो पल के लिए मुझे लगा कि इन्हें उल्लू तो नहीं बना रहे। किसी भी हरे पत्ते को सुखा कर गांजा तो नहीं बना दिया? लेकिन फिर उसकी सुगंध सूँघ कर यह यकीन हुआ कि है तो यह गांजा ही है।

मेरी रुचि तो यहाँ भी वही थी, जो रेड-लाइट एरिया में। शराबखाने और गंजेड़ियों के पास बैठना लेखकों के लिए लाभप्रद है। यह बात मैं ही नहीं कह रहा, सॉमरसेट मॉम से नैपॉल तक इन्हीं अड्डों से कथा सृजन करते आए हैं। व्लादीमीर नाबोकोव को तो 'लोलिता' की पूरी कहानी ऐसे ही किसी गंजेड़ी-नशेड़ी से मिल गयी, और उनकी कथा दिग्विजय कर गयी। कालजयी बन गयी। हाँ! अगर स्वयं गंजेड़ी-नशेड़ी बन जाते तो 'लोलिता' कोई और लिख डालता जिसमें वह भी एक पात्र होते। मैं इसी विश्वास से काउंटर पर पहुँचा और बुदबुदाया- 'ब्रास'। मेरा स्वर ऐसा ही था जैसे कोई नवविवाहित कंडोम खरीदने आया हो। मैंने दुनिया देख रखी है लेकिन गांजा तो छुप कर ही

खरीदते देखे।

पुणे की एक झोपड़पट्टी में संकड़ी गलियों से गुजर कर एक जूट का बना पर्दा उठा कर पूछना होता, “घास?” यह कितना बेहूदा सवाल है। सौ रुपए सरकाओ और छोटी सी पुड़िया बाँधे पुलिस से भागते फिरो। इससे बेहतर तरीका एक गंजेड़ी ने ढूँढा कि सड़क पर बैठे साधुनुमा भिखारियों से मांग लेता। और उससे भी कारगर उपाय था नेपाली तंबू। लेकिन यह तीनों कार्य सामाजिक मापदंडों के विपरीत थे कि एक संभ्रांत व्यक्ति भिखारी ढूँढ कर गांजा खरीदे। वहीं दूसरी ओर यह कितना पवित्र और निर्मोही संबंध है कि भिखारी भी इस वस्तु की भीख दे सकता है। हालांकि बड़े लोगों के बड़े चैनल भी होते जो बड़ी-बड़ी जगह पहुँचाते, लेकिन उनकी कीमत आसमान छूती थी। नीदरलैंड में यह सुविधा थी कि गांजा लोग सीना तान कर खरीद रहे थे।

मैंने गांजा पूछ दिया तो एक मेनूकार्ड सामने आ गया। गांजा का मेनूकार्ड। तरह-तरह के नाम, गुणवत्ता के आधार पर। गांजा फ्लेवर के मीठे केक। और पहले से रॉल कर रखी गांजा-तंबाकू सिगरेट। एक और कमाल की बात यह थी कि जहाँ गांजा मिल रहा था, वहाँ शराब अनुपलब्ध था। और जहाँ शराब मिल रहा था, वहाँ गांजा निषेध था। यही बात तो बॉब मार्ले ने भी कही थी कि इन दोनों का मेल बेमेल है। वह स्वयं गांजा-समर्थक और शराब-विरोधी थे। मुझे किसी ने बताया कि भारत के एक राजनेता भी इसी धारणा के हैं। यह बात कैलिफ़ोर्निया के कानूनगो नहीं समझते। नीदरलैंड के लोग शायद समझते हैं। इसकी एक ऐतिहासिक वजह भी है कि नीदरलैंड सदियों से इस धंधे का छुपा रुस्तम रहा है। कोकेन के बाज़ार को पूरे विश्व में गरम रखने के पीछे इस देश का हाथ है, यह भी एक गंजेड़ी ने ही बताया। मैं इन बातों की पुष्टि में विश्वास नहीं रखता। गंजेड़ी ने कहा तो ठीक ही कहा होगा। बुद्धि के ठेकेदारों ने कहा होता तो शंका होती।

एक महाशय वहीं अंदर बैठ सिगरेट पीने लगे, तो उन्हें बाहर खड़े होने कह दिया गया। दुकान के ठीक बाहर एक लक्ष्मण-रेखा थी। उस रेखा के बाहर ही सिगरेट पी सकते थे। लेकिन अंदर बैठ गांजा पी सकते थे! यह भेद भी समझ नहीं आया कि गांजा पुरस्कृत और सिगरेट तिरस्कृत। मैंने पूछा तो दुकानदार ने समझाया कि सिगरेट स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। मैंने कहा कि यह बात तो बच्चा-बच्चा जानता है, लेकिन गांजा? उसने कहा कि गांजा से अपनी हानि जो भी हो, उसके धुएँ से वातावरण दूषित नहीं होता। गांजा जैसे जलती अगरबत्ती या कपूर, और सिगरेट जैसे जलता अलकतरा। इसलिए गांजा पवित्र है, सिगरेट अपवित्र। मैंने उससे यह कहना ठीक न समझा कि मैं भी चिकित्सक हूँ। मैंने अपने जीवन में विज्ञान और चिकित्सा की एक नियत परिधि बना रखी है। उन्हें मैं पोटली में बाँध कर रखता हूँ, वे मुझे बाँध कर नहीं रखते। मैं कभी भूतों की खोज करूँ, कभी गंजेड़ियों का जयगाण करूँ, वे मुझे नहीं टोकते। वे जानते हैं कि मेरे इस जयगाण में भी वही वैज्ञानिक शोध छुपा है, जिज्ञासा छुपी है, विचारों का लोकतंत्र छुपा है, सत्य का निष्पक्ष अन्वेषण छुपा है, और सबसे बड़ी बात- कुतर्क छुपा है।

मैं एक भोजन-सामग्री लेकर गांजे की मीठी सुगंध सूँघने लगा। ऐसी सुगंध पहले भी सूँधी थी, लेकिन यहाँ की बात और थी। कुछ ही पल में एक गंजेड़ी से बतियाने लगा, हालांकि शुरुआत उसने ही की थी।

“पहली बार आए हो एम्सटरडम?” न जाने यह प्रश्न हर फिरंगी क्यों पूछता है। यह प्रश्न नॉर्वे में भी पूछते हैं जबकि मैं नॉर्वे का बाशिंदा हूँ। यह प्रश्न हमारे बच्चों से भी पूछा जाता ही रहेगा। वही ‘हरामजादे’ वाली बात है। जिस बच्चे का चेहरा-मोहरा न मिले, वह अक्सर हरामजादा ही कहलाता है। एम्सटरडम में बैठा भूरा कितना भी ताल ठोक कर कहे कि वह डच है, उसे लोग पूछेंगे सवाल तो जरूर बेहतर है कि सच बता दे कि उसके पूर्वज कभी पहली बार आए थे, उसे पैदा कर यहीं गाड़ गए, यहीं खाद-पानी देते रहे, यहीं की मिट्टी में पाला-पोसा। निकला फिर भी हिंदुस्तानी!

“हाँ! यही समझ लें। लंबे समय के लिए यह पहली ही बार है। लेकिन गांजा का तो पुराना अनुभव है।”

“तो फिर पी क्यों नहीं रहे? यहाँ का गांजा भी चखो।”

“चख रहा हूँ। बहुत सुंदर है महका। लेकिन यह गांजा वाकई यहीं उगता है या अफ़ग़ानी है?”

“यहाँ उगाना तो गैरकानूनी है।”

“और गांजा मारना कानूनी है?”

“वह भी गैरकानूनी है।”

“लेकिन आप तो गांजा मार रहे हैं?”

“मैं गैरकानूनी काम कर रहा हूँ। हम सब गैरकानूनी काम कर रहे हैं। बस यह समझ लो कि हर बात कानून की किताब में लिखी नहीं जा सकती। क्या हम खाते-पीते किसी देश की कानून से हैं? उठते-बैठते देश की कानून से हैं? क्या अपनी प्रेमिका का चुंबन कानून से लोने?” और वह गंजेड़ियों वाली बिहुसती हँसी हँसने लगे।

“लेकिन इस कॉफ़ी हाउस के मालिक पर तो लगाम लग सकती है?”

“लगाम है। वह गांजा खरीद नहीं सकता।”

“तो फिर गांजा लाता कहाँ से है?”

“जहाँ से भी लाए। वह इस देश में गांजा न उगा सकता है, न खरीद सकता है।”

“मतलब वह गैरकानूनी तरीके से गांजा लाता है, आप गैरकानूनी तरीके से गांजा पीते हैं?”

“फिर तुम कानून के चक्कर में फँस रहे हो। तो सुनो। इसकी एक नैतिक सीमा है। एक खास वजन से अधिक गांजा न रखा जा सकता है, न किसी एक व्यक्ति को दिया जा सकता है। गर कोई ऐसा करे, तो उस पर कानून की सभी धाराएँ लग जाएँगी। यूँ भी अब वह पुरानी बात नहीं रही। पहले तो हर गली, हर सड़क पर मिलते थे।”

पहले हर गली, हर सड़क पर गांजा मिलता होगा तो नीदरलैंड कैसा होगा? उसका हथ्र अन्य नशाग्रस्त देशों सा क्यों न हुआ? वह अफ़ग़ानिस्तान या मेक्सिको क्यों न बना? वहाँ के बच्चे कैसे गांजा पीते मर न गए? या जिप्सी बन कर क्यों न भटकते रहे? आज के युवा क्यों नहीं गांजा मार कर पड़े रहते हैं? एक नास्तिक देश में इतनी चेतना और आत्म-नियंत्रण आई कैसे जो आस्तिक देशों में नहीं आ पाई? सिर्फ यह कह देना काफी नहीं कि यह एक विकसित देश है और सरकार जनता का ध्यान रखती है। सरकार क्या ध्यान रखती है, यह तो नजर ही आ रहा है। लेकिन सोचा कि किसी सरकारी व्यक्ति से भी तलब कर लूँ।

अगली सुबह एक सरकारी व्यक्ति से मिलना भी था। हमारी मुलाकात एक फ़ैशन के केंद्र पर थी। मेरा कुछ काम न था, लेकिन जगह वही चुनी गयी थी। जब वहाँ पहुँचा तो रास्ते में गांधी जी मिल गए। नीदरलैंड में दुनिया की सबसे अधिक गांधी की मूर्तियाँ और गांधी के नाम से सड़क हैं। हर शहर में एक गांधी जी तो हैं ही, एम्सटरडम में दो-चार होंगे। मैंने जो भी गांधी की मूर्तियाँ या तस्वीर देखी, उसमें गांधी काले थे। बिल्कुल चमकीले काले। भारत में गांधी की मूर्तियाँ गोरी या बादामी या नीली भी नजर आती हैं। विदेश के गांधी अगर खड़े हैं तो लाठी लेकर ही खड़े मिलते हैं। भारत में गांधी की आधी मूर्तियों में बस सर और छाती होती है, बाकी का धड़, पैर और लाठी नहीं होती। लोग कहते हैं कि गांधी अजानबाहु थे। अगर धड़ आधा काट दिया तो हाथ भी आधा काटना होगा। चश्मा गांधी की पहचान नहीं, गांधी की पहचान वह मजबूत पैर और वह लाठी है। चश्मा तो विकार है। हमने विकार को फ़ैशन-सिम्बॉल बना लिया, और शक्ति के दो खंड कर दिए। तभी धड़कट गांधी जहाँ-तहाँ नजर आने लगे।

“और जानते हो गांधी की मूर्ति जिस सड़क पर है, उसका नाम क्या है?”

“क्या है?”

“चर्चिल की सड़क! हा हा हा!”

“यह भला क्यों?”

“चर्चिल की मूर्ति मिली नहीं होगी। गांधी की तो थोक के भाव मिल जाती हैं। बस, लगा दी।”

“यह क्या मजाक है?”

“हाँ! मजाक ही है। खैर, यह बताओ कि तुर्की का भोजन पसंद करोगे या चीन का?”

“यह दोनों ही क्यों? नीदरलैंड का भोजन?”

“वह ढूँढना पड़ेगा। तुर्की और चीनी भोजन हर गली में मिल ही जाता है।”

“यह बात है तो तुर्की ही ठीक।”

“क्या ठीक? माँस में बैंगन डाल देते हैं।”

“हमारे देश में तो ऐसा प्रांत है जहाँ मछली में भी बैंगन डालते हैं। बैंगन में क्या बुराई है?”

“बुराई तो खैर गांजा में भी नहीं। कल कैसा लगा?”

“अद्भुत है। पहले भी सुना-देखा था, लेकिन इस बार वक्त लेकर निहारा-सूँघा।”

“क्या दोस्त! बस सूँघ कर चले आए? वैसे ठीक ही किया। गांजा इस देश का ऐसा इक्का है जो दूसरों के मुँह पर फेंकने के लिए है।”

“मतलब?”

“मतलब यह कि डच स्वयं न गांजा मारते हैं, न रेड लाइट डिस्ट्रिक्ट जाते हैं।”

“वयस्क तो ठीक है, लेकिन बच्चों और नवयुवकों को इतनी अवल कहाँ से आई?”

“बच्चे तो नहीं, पर युवक तो गांजा मारते ही हैं। लेकिन यूँ ही छुट्टियों के दिन कभी-कभारा।”

“बच्चे क्यों नहीं मारते?”

“उन्हें मिलता ही नहीं। वैसे स्कूल के आस-पास गांजा मिलने पर अब पाबंदी भी है।”

“यह बात जमी नहीं। गांजा तो वह किसी वयस्क की मदद से ले ही सकते हैं।”

“हाँ! ले तो सकते हैं। और शायद इसलिए उनकी इच्छा छुटपन में ही मर जाती है जो चीज आसानी से मिल जाए, उसे कौन ढूँढता है। न मिलती तो कौतूहल होता कि देखें आखिर चीज क्या है?”

“मतलब?”

“मतलब यह कि तुम पता करो कि जो लोग ताजमहल के पड़ोस में रहते हैं, वे कितनी बार ताजमहल देखने जाते हैं?”

“हा हा! अब समझ गया।”

तुर्की भोजनालय की खाजा मिठाई खूब थी। परत-दर-परत चीनी की चाशनी और ड्राय-फ्रूट में डुबोई मैदे की मिठाई। खाजा में परतें कुछ मोटी होती हैं, और तुर्की के ‘बकलावा’ मिठाई की परतें पतली। इस्तांबुल के बकलावा और नीदरलैंड के बकलावा वहीं फर्क है जो देश में बसे लोगों और एन.आर.आई. में। यहाँ का बकलावा इस्तांबुल से कुछ कम मीठा है, लेकिन भारत के खाजा से अधिक मीठा। मेरा मानना है कि भारत में जो बहुत ही मीठे मिठाई आए, वे मध्य-एशिया से आए। जो कुछ कम मीठे आए, वह यूरोप से आए। भारत के मूल लोग सात्विक और कम मीठी मिठाई खाते थे। दक्खिन के मोदक देख लें या तेलंगाना के खाजा देख लें। द्रविड़ सदा से मीठा कम, खट्टा अधिक खाते रहे। उत्तर के पारंपरिक और ग्रामीण इलाकों में खीर गुड़ की ही बनती है। शक्कर तो सुदूर वेस्ट-इंडीज़, दक्षिण महासागर के द्वीपों और दक्षिण अमरीका से विश्व में जाता

था। यह और बात है कि वहाँ भी खेतों में भारत से ही किसान-मजदूर ले जाए गए थे। और उनमें से एक के वंशज अब मेरे सामने आकर खड़े हो गए। मेरे जाने का वक्त हो चला था तो उन्होंने कहा कि वही हवाई-अड्डे छोड़ आएँगे। मैं उनका गुप्तचर था, और वह मेरे। हम दोनों का ध्येय एक ही था, लेकिन यह बात हमारे मध्य ही रह गयी।

नास्तिकों के देश से लौटते कुछ यूँ लगा कि आस्था की परिभाषा में लोचा है। गिरजाघर बिक गए लेकिन प्रकृति की रक्षा कर रहे हैं। वेश्यालय खुल गए लेकिन स्त्री का सम्मान है। गांजा खुले-आम बिक रहा है लेकिन नशाखोड़ी नहीं।

इनकी नास्तिकता में छुपी शायद आस्तिकता है।



## उपसंहार

एम्सटरडम से वापस आकर अपने कमरे में कुछ देर लेटा ही था कि मि. ऑल्सन ने दरवाजा खटखटाया। यह मेरे जीवन के एक काल्पनिक पात्र हैं, जो कई बार मेरा दरवाजा खटखटाते हैं। यह भी संभव है कि पात्र असल हों, और मैंने उन्हें काल्पनिक मान रखा हो। वर्चुअल मित्र, जैसे मेरे प्रेत-मित्र। नोबेल पुरस्कृत अर्थशास्त्री जॉन नैश भी काल्पनिक मित्र अपने साथ रखते थे। बल्कि उनके दो काल्पनिक मित्र थे, अलग-अलग उम्र के। उनका कहना था कि जीवन के कई महत्वपूर्ण निर्णयों में उनकी भूमिका रही। वे किसी को नजर नहीं आते किंतु जॉन नैश उनसे घंटों बतियाते। जब उन्हें लोगों ने पागल सिद्ध किया तो उन्होंने अपने इन मित्रों की तपतीश शुरू की। उनके मन में अचानक यह बात कौंधी कि इन मित्रों की उम्र क्यों नहीं बढ़ती, बाल क्यों नहीं पकते, झुर्रियाँ क्यों नहीं आती, बच्ची बड़ी क्यों नहीं होती? काल्पनिक मित्र रखने से पहले यह ध्यान रखना जरूरी है कि कल्पना में उसकी उम्र भी बढ़े। मेरे एक शिशु-चिकित्सक मित्र किसी 'मिस्टर एक्स' से बतियाते हैं, और उन्होंने यह ध्यान रखा है कि उनकी उम्र भी बढ़े। यह कुछ 'डच वाइफ़' या सेक्स-टॉय वाला मामला है, जब लोग बातें करने के लिए एक काल्पनिक पुतला रखने लगे। अन्यथा बात किससे करेंगे? सब तो व्यस्त हैं।

मि. ऑल्सन संभव है कि मेरे आने वाली पुस्तकों के भी पात्र रहें, क्योंकि उनसे तो मैं रोज ही मिलता हूँ। उम्र में मुझसे दोगुने, लेकिन ख्वाह-म-ख्वाह ज्ञान कम बाँटते हैं। तो मि. ऑल्सन ने आकर कहा कि कल सुबह मछली मारने चलेंगे। मैं तो यूँ नीदरलैंड से थक कर ही घर लौटा था, लेकिन मछली का नाम सुनते ही मन का मैथिल जाग गया। मैंने आधी नींद में ही हाँ कह दिया, और इससे पहले कि कुछ और बतियाता, वह हाथ हिलाते निकल गए। उन्होंने शायद जल्दबाजी में यह कहा था कि डूबने से बचने वाला जैकेट ले लेना, लेकिन मैंने सुना नहीं।

जो आर्कटिक बस्ता नीदरलैंड लेकर गया था, वही लेकर अगले दिन नए सफर पर चल पड़ा। मछली मारना तो यूँ भी नीदरलैंड की सड़कों से सुलभ ही कार्य होगा। नदी किनारे बैठ बंसी लगा लो, और क्या?

लेकिन जब सुबह मि. ऑल्सन मुझे लेने आए, उनका लम्बो-लुआब देख मैं घबड़ा गया। एक बड़ी गाड़ी, उसमें पीछे कुंदे से अटकायी एक उससे भी बड़ी नाव, और गाड़ी के पीछे बैठे दो कुत्ते। मैंने कहा कि जनाब मैं अपनी गाड़ी लेकर आपके पीछे हो लेता हूँ कि रास न आया तो भाग कर घर लौट सकूँ। उन्होंने हँस कर कहा कि यह भी ठीक है, लेकिन हम तो द्वीप पर जा रहे हैं, वहाँ से भागने के लिए गाड़ी काफी न होगी, तैर कर पहले तट पर आना होगा। अब यह क्या बेवकूफी है? द्वीप पर जाकर मछली मारने से बेहतर है कि तट पर बैठे मार लो!



खैर, लगभग छह घंटे के सफर के बाद हम उस मुकाम पर पहुँचे जहाँ से आगे का रास्ता नाव से था। एक ढलान से धीरे-धीरे गाड़ी रिवर्स कर तट पर लायी गयी, और नाव खोल दिया गया। हमारी डोंगी अब झील में, और मैं उसे रस्सी से थामे हूँ कि बह कर दूर न चला जाए। नाव को मैंने एक बड़े पत्थर से टिका दिया, और अपना राशन-पानी नाव पर चढ़ाने लगा। हमें दस दिन एक निर्जन द्वीप पर जीवन बिताना था तो भोजन साथ ही लेकर जाना था। भोजन ही क्या, रोटी-कपड़े और मकान सब। अब वहीं तंबू गाड़ कर रहेंगे, वहीं मछली मार पकाएँगे।

नाव पर मैं, ऑल्सन और दो कुत्ते सवार तो हो गए लेकिन नाव चलाने की दक्षता उतनी न थी। कुछ देर भटक कर हमें आखिर द्वीप नजर आ ही गया। मुश्किल यह है कि द्वीप के किनारे नुकीले पत्थर होते हैं, जो नाव को नुकसान पहुँचा सकते हैं। ऐसे में द्वीप से कुछ दूर ही मैं नाव से बँधी रस्सी लेकर कूद गया, और तैर कर द्वीप पर जा पहुँचा। अब नाव की डोर मेरे हाथ थी तो लंगर गिरा दिया गया। फिर एक-एक कर सारे सामान भी उतारे, और हम द्वीप पर एक सपाट जगह देख तंबू लगाने लग गए। अभी कड़ी धूप थी और द्वीप वीराना था। तंबू और शेड लगाना जरूरी था कि आराम फरमा सकें।

ऑल्सन पुराने खिलाड़ी थे। उनके पास सभी इंतजाम था। ऐसे इंतजाम बाबाधाम (देवघर) के कांठड़ियों में सरदार बम के पास होते हैं। छोटा सा गैस चूल्हा। छोटे-छोटे सिलिंडर। तवा। काँटे-चम्मच के गुच्छे। थाली। कॉफी के कप। कॉफी गरम रखने का इंतजाम। बैठने के आसन। फ़ोल्ड होने वाली कुर्सियाँ। लकड़ियाँ जलाने के तेल। लाइटर और माचिस। चाय-कॉफी की केतली। ब्रेड-मक्खन। बैठने की चटाई। किताब पढ़ने की रेशमी जो सर पर बाँधी जा सके। शौच के कागज। ताजा मांस। सब्जियाँ। आलू के बुरादे। तमाम मसाले। मच्छर से रक्षा वाले क्रीम। सिगरेट और ठंडी शराब।

थोड़ी ही देर में हमारा रसोई-घर तैयार था। लकड़ियाँ द्वीप पर घूम-घूम कर जमा कर ली थी। अब हम आत्म-निर्भर थे। इसी द्वीप पर हमें दस दिन गुजारने थे। राशन इतना था कि शायद हफ्ता भर चल जाए। बाकी का राशन था झील की मछलियाँ। यह एक तरह की बड़ी झील ही थी, इसलिए इसमें तरंगें कम थी। गहराई और रंग समंदर का था, लेकिन पानी शीतल और मीठा था। नौर्वे ऐसे फ़योर्ड से भरा पड़ा है। ये नीदरलैंड के नहरों की तरह कृत्रिम नहीं नजर आती।

यहाँ मोबाइल और इंटरनेट तो न ही था, बिजली-पानी की भी व्यवस्था न थी। तो हमें खाना रखने के लिए अब फ़्रीज़ बनाना था। भोजन को बड़े-बड़े डब्बों में रख कर हमने झील के पानी में डुबो दिया और उसके चारों ओर और ऊपर पत्थर टिका दिए। अब यह तैयार हो गया शानदार फ़्रीज़।

थोड़ी ही देर में दिन ढलने लगा, शाम होने लगी और हम आग जला कर मांस पकाते आकाश के बदलते रंग देखते रहे। यूँ बतिया भी सकते थे, लेकिन सन्नाटे का आनंद ही कुछ और था। मैं बाबा फरीद का गीत 'तुरिया तुरिया जा' गुनगुनाने लगा तो ओल्सन ने कहा कि उन्हें भी सिखा दूँ और हम दोनों यह गीत गुनगुनाने लगे। अगली सुबह हमें दूसरे द्वीप की ओर जाना था, जहाँ मछलियाँ मिलने के आसार अधिक थे।

पूरे दिन कड़ी धूप में हम बंसी लेकर एक झील से दूसरे झील के चक्कर काटते रहे। यह केरल के अष्टमुदी सरीखा झीलों का जाल था, जो खत्म ही नहीं हो रहा था। कई दफे झील के नीचे एक पहाड़ नजर आता, जो मि. ऑल्सन के अनुसार 'आईस-एज' के समय लगभग बीस हजार वर्ष पूर्व नीचे दब गया। ऐसे स्थानों पर नाव की दिशा बदलनी पड़ती क्योंकि पहाड़ का कोना नाव को क्षति पहुँचा सकता था। लेकिन इन झील के नीचे उत्तुंग पहाड़ों पर दया भी आती कि कभी इनकी चोटियाँ कितनी मनमोहक होंगी, आज दबी पड़ी हैं।

मैं बंसी को चहुँदिसा में लहरा-लहरा कर फेंकता। इसके धागे सौ मीटर लंबे थे जो कहीं दूर झील में जाकर गिरते। कभी-कभार कोई हलचल होती तो मैं झटके से धागे को घुमाना शुरू करता। एक छोटी मछली सिरे पर फँसी नजर आती, जिसे मैं वापस झील में छोड़ देता। यह भी एक नियम था कि जो मछली बड़ी न हो, उसे वापस छोड़ दिया जाए। यह मछुआरों का दिया अधिकार होगा कि एक खास उम्र के बाद मछली को वीरगति प्राप्त होती होगी। लेकिन कमाल की बात यह थी कि हमने बंसी के सिरे पर धातु की छोटी मछलियाँ ही लगाई हुई थी। एक बड़ी मछली एक छोटी मछली का ग्रास करने ही ललचा कर आती। ऐसा कम ही प्रजातियों में होता है कि अपनी ही प्रजाति का ग्रास कर लें। मनुष्यों में अगर ईदी अमीन सरीखे मानव-भक्षियों को छोड़ दें तो ऐसा नहीं होता। मनुष्य अन्य प्रजातियों का मांस ही खाता है। लेकिन बड़े मनुष्य छोटे मनुष्य का निवाला जरूर छीन लेते हैं। यह कहना कठिन है कि मछली का कर्म क्रूर है या मनुष्यों का।

जब हम यँ ही जीवन-दान देते हुए वापस खाली हाथ द्वीप पर लौटे तो अगले दिन की रणनीति बनाने लगे। जाहिर है मछलियाँ कड़ी धूप में झील के तल से दूर ही रहती हैं। वे कहीं गहराई में तैर रही होंगी। शायद हमें शाम को निकलना होगा। या फिर कुछ और तरकीब अपनानी होगी। अगले दो दिन निराश होकर हमने रणनीति बदल ही डाली। अब जाल फेंकना ही उपाय था, लेकिन इतने गहरे झील में जाल फेंकना तो नामुमकिन था।

यहाँ एक पुरानी तरकीब काम आयी। द्वीप के तट पर लगे एक पत्थर से हमें तट से कुछ दूर झील में उगे दूसरे पत्थर तक जाल बाँधना था। रस्सी का एक सिरा तट पर बाँध दिया और तैर कर दूसरे पत्थर पर गए। अब तट और उस पत्थर के बीच एक रस्सी बैँधी थी। उस रस्सी के सहारे जाल बीच में टँग कर झील में गिरा दिया। अब जो भी मछली इस रास्ते से गुजरेगी, वह झील में फँसती जाएगी। एक दूज की रात यह उपक्रम किया गया, और जब हम सुबह उठे तो जाल मछलियों से लदा था। हम आखिर कामयाब हुए!

यँ भी अब राशन खत्म हो रहा था। मांस पुराने हो चले थे। ऐसे समय में मछलियों ने हमें अगले चार दिनों का भोजन तो मुहैया करा ही दिया। यह भी एक जीवन है जब हम किसी द्वीप पर अटक गए हों और हमारे पास भोजन न हो। यँ ही इन ध्रुवीय प्रदेशों के लोग मांसाहारी नहीं। यहाँ अनाज उगाना तो संभव नहीं। इन्हें मछली और पशुओं पर ही आश्रित रहना पड़ा। जैसे हम आज इन पर आश्रित थे।

मछलियों का पित्त निकाल कर उनके पेट में नमक डाल कर हमने अपने जल-फ्रीज़ में जमा कर लिया। यही हमारा हासिल रहा। हम उसके बाद भी नाव लेकर जाते लेकिन मछलियाँ न मारते।

बस एक द्वीप से दूसरे द्वीप चक्कर लगाते। कभी पूरे दिन दूसरे द्वीप को इस पार से उस पार लांघते। ऐसी ही एक यात्रा में एक सुदूर द्वीप पर घर नजर आया। हम जब वहाँ पहुँचे तो एक अधेड़ पुरुष उस घर में तीस वर्षों से रह रहे थे। उनके पास कोई भी इंटरनेट-मोबाइल या बिजली न थी। लेकिन वह प्रसन्न लग रहे थे। उन्होंने लकड़ियाँ काट कर जमा कर रखी थी। एक बड़ी नाव थी जिससे वह महीने भर के राशन ले आते। लेकिन यँ एक द्वीप पर तीस वर्षों तक अकेले रहना? मछली मार कर जीना? यह कैसा जीवन है?

हमें उन्होंने चेताया कि आज शहर लौट जाओ। तूफान आ सकता है। हमने कहा कि आपको कैसे खबर हुई? उन्होंने लहरों की तरफ इशारा कर दिखाया कि यह आज और दिनों से अलग बह रही है। इसमें कहीं ज्यादा उछाल है। हमने भी देखा कि वाकई झील में आज हलचल है। फिर उन्होंने रेत की ओर इशारा किया कि देखो कल रात कहाँ तक तट को गीला कर गया। उनकी बातें किसी भू-विज्ञान की बातें नहीं, उनके अनुभव की बात थी। हम जैसे ही लौटने लगे, वाकई मूसलाधार बारिश शुरू हुई और तूफान के आसार दिखने लगे। यह मुझे आईसलैंड के उस अधेड़ महिला की चेतावनी की याद दिलाने लगी। क्या यह व्यक्ति वाकई उस घर में रहता था, या कोई भ्रम था? इतने दिनों से हम चक्कर लगा रहे हैं, कभी यह घर पहले क्यों न नजर आया? आज तूफान की चेतावनी देने मात्र की भूमिका इसकी क्यों थी?

लेकिन यह सब सोचने का वक्त न था। हमने लौटते ही तंबू उखाड़ने शुरू किए लेकिन अब मौसम बिगड़ता ही जा रहा था। नाव चलाना भी सुरक्षित न था। हमारे कुत्ते द्वीप के इस छोर से उस छोर पागलों की तरह दौड़ रहे थे जैसे किसी अनिष्ट की आशंका हो। हम रुक गए। इसी बीच एक नाव नजर आया, जो हमारे द्वीप की ओर बढ़ रहा था। हमें लगा कि चलो अब कुछ साथ मिला। उसने लंगर भी डाला, लेकिन कुछ ही देर में वह गायब हो गया। शायद उसे निर्जन द्वीप की तलाश हो, और हमें देख किसी और द्वीप की ओर बढ़ गया हो? यह सब कुछ अजीब सी घटनाएँ घट रही थी।

वह रात जैसे-तैसे गुजरी, लेकिन सुबह बारिश के बावजूद मौसम बेहतर था। हमारी वापसी यात्रा शुरू हुई। मैंने आखिर छलांग मार स्नान किया और द्वीप को अलविदा कहा। नीदरलैंड के भौतिक सुखों से लौट कर प्रकृति की गोद में यँ एक अंगड़ाई पूरी हुई।

“रूखी सूखी खाए के, ठंडा पानी पी।  
वेख परायी चूपड़ी, न तरसाए जी।  
फरीदा तुरिया तुरिया जा।”  
- शेख फरीद



## लेखक की अन्य किंडल पुस्तक

१. भूतों के देश में - <https://www.amazon.in/dp/B07B74WM8P>

२. चमनताल की डायरी- <https://www.amazon.in/dp/B07B8WKYTZ>